वृत्ति को अपनाया गया। इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है। अथर्ववेद में विभिन्न रसों, अभिचार कर्मों और शत्रुनाशन आदि का विशेष वर्णन है। इस प्रकार रस समन्वय के लिए अथर्ववेद का उपयोग किया गया।[1]

रसों की दृष्टि से वीभत्स और करुण रस में भारती; वीर, अद्भुत और शान्त रस में सात्त्वती; हास्य और शृंगार में कैशिकी तथा रौद्र और भयानक रस में आरभटी वृत्ति का प्रयोग होता है।[2] इसीलिए वृत्तियों को नाट्य माता (वृत्तयो नाट्यमातरः) कहा गया है।

आचार्य भरत ने चारों वेदों से इन चार वृत्तियों को लेने का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है कि ऋग्वेद से भारती, यजुर्वेद से सात्त्वती, सामवेद से कैशिकी और अथर्ववेद से आरभटी वृत्ति ली गई हैं।[3]

६. लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी

आचार्य भरत ने अपने समय में प्रचलित दो प्रकार की धर्मियों अर्थात् विधाओं का उल्लेख किया है—लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी। धर्मी का अभिप्राय है—धर्मयुक्तता या विशिष्ट धर्मानुसरण। किसी विशेषता या परम्परा का अनुसरण करना धर्मी या धर्मिता है। नाट्य की दो प्रकार की परम्पराएँ बताई गयी हैं। लोक परम्परा पर निर्भर और शास्त्रीय परम्परा पर निर्भर। दोनों परम्पराओं की स्वतन्त्र विशेषताएँ हैं। इस आधार पर नाट्यशास्त्र में धर्मी-विचार भी नाट्य के ११ तत्त्वों में से एक माने गए हैं।[4] धर्मी विचार में इन विशेषताओं का विशद विवेचन है।

लोकधर्मी : लोकधर्मी उस परम्परा को कहते हैं, जिसमें लोक या जन-साधारण की परम्परा के अनुसार अभिनय प्रदर्शित किया जाता है। यह तथ्यात्मक अपरिष्कृत या ग्राम्य विधि है। इसमें पूर्णतया सादगी रहती है। इसमें कृत्रिमता का परिहार किया जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार कवि या नाटककार किसी घटना या क्रिया का यथार्थ रूप में वर्णन करता है, अर्थात् जो घटना, जब, जैसी, जिस रूप में घटित हुई है, ठीक उसी प्रकार वर्णन करता है और तदनुसार नट उसका प्रयोग करता है। कवि और नट उसमें अपनी बुद्धि से किसी प्रकार का अतिरंजन नहीं करते हैं। ऐसा काव्य भाग और प्रयोग भाग लोकधर्म पर आश्रित होने के कारण लोकधर्मी कहलाता है।[5]

---

१. ना० शा० १०.६५।
२. ना० शा० २०.७३,७४।
३. ना० शा० २०.२५।
४. ना० शा० ६.१०।
५. ना० शा० १३.७१ पर अभिनव-भारती ना० शा० भाग—२ पृ० २१५।

Scanned with CamScanner

लोकधर्मी नाट्य परम्परा की विशेषताएँ हैं[1] :—१. लोक स्वभावनुसार भावों को प्रदर्शित किया जाता है, २. कृत्रिमता का अभाव और पूर्ण सादगी रहती है, ३. कथावस्तु में सामान्य प्रजाजन के आचार तथा क्रियाओं का प्रदर्शन किया जाता है, ४. भाव-भंगिमा-रहित सरल आङ्गिक प्रदर्शन किया जाता है, ५. स्वाभाविक एवं अकृत्रिम अभिनय प्रदर्शित किया जाता है। ६. स्त्री और पुरुष पात्रों की बहुलता होती है। अन्य दो भेद

नाट्यधर्मी : यह लोकधर्मी विधा की अपेक्षा अधिक कल्पना-समृद्ध, वैचित्र्यपूर्ण और अनुरंजक होती है। इसके काव्यभाग और प्रयोग भाग दोनों में कल्पना का चमत्कार और सौन्दर्य का योग होता है। भरत ने इसके लिए कुछ निश्चित सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। इतिहास आदि के वृत्तों को यथावत् प्रस्तुत न करके उसमें कल्पना और अतिरंजना की पुट देकर रोचक तथा आकर्षक बना दिया जाता है। नाट्यधर्मी की प्रमुख विशेषताएँ हैं[2] :—

१. नाट्यधर्मी में सभी शास्त्रीय उक्तियाँ होती हैं। सांकेतिक वाक्य, स्वगत, आकाशभाषित आदि होते हैं। रंगमंच पर प्रयोज्य वस्तु एवं भावों का संकेत करने वाली अनेक विधियाँ या निर्देश होते हैं।

२. इसमें वाक्य विन्यास असामान्य होता है। क्रियाओं में असाधारणता होती है। पात्र दिव्य और अदिव्य दोनों होते हैं। भाव विशेष रोचक होते हैं। नृत्य और अङ्गहारों का समायोजन होता है। संगीत के संग्रह के कारण स्वरों का रागयुक्त आरोह-अवरोह रहता है। मानव के भावों और चरित्र का कुशलतापूर्वक प्रकाशन होता है।

३. प्रसिद्ध वस्तु का मूर्त-रूप में कुशलता से संवाद-सहित प्रयोग होता है।

४. पर्वत, वाहन, विमान आदि का प्रतीकात्मक मूर्तरूप में प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार अमूर्त भावों को मूर्तरूप में प्रस्तुत किया जाता है। जैसे—मायापुष्पक नाटक में ब्रह्म शाप को मूर्तरूप में प्रस्तुत किया गया है।

५. लोक व्यवहार के विपरीत समीपस्थ व्यक्ति के वचन को न सुनना और अप्रयुक्त वचन को सुनकर उत्तर देना। आकाशभाषित की योजना इसी विधि के अनुसार है।

६. पात्रों की भूमिका में विपर्यय। पुरुष पात्र स्त्री की भूमिका में और स्त्रीपात्र पुरुष की भूमिका में रंगमंच पर अवतरित होते हैं।

---

१. ना० शा० १३.७०,७१।

२. ना० शा० १३.७२-८५। अ० भा० भाग-२ पृ० २१५-२१८।

Scanned with CamScanner

७. एक पात्र का एक से अधिक की भूमिका में प्रयोग। आवश्यकता या अभिनय कुशलता के कारण एक पात्र को ही एक से अधिक पात्र की भूमिकाओं में रंगमंच पर अवतरित किया जाता है।

८. सामाजिक मान्यता के विपरीत स्त्रीपात्रों की भूमिका होती है। इसमें संन्यासिनी आदि को प्रेयसी के रूप में और प्रेयसी को संन्यासिनी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

९. अङ्गों का ललित विन्यास होता है। इसमें पादसंचार में नृत्यात्मकता दिखाई पड़ती है।

१०. मानवीय सुख दुःखादि को आंगिक अभिनय एवं वाद्यादि के संयोग से असामान्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

११. रंगपीठ पर कक्ष्या विभाग किया जाता है। रंगपीठ पर दृश्य विधान की परिकल्पना नाट्यधर्मी है।

१२. चित्राभिनय का समस्त संकेतात्मक अभिनय नाट्यधर्मी है।

१३. सहज भावों को आङ्गिक अभिनय, नृत्य और अंगहारों के साथ प्रदर्शित किया जाता है।

१४. शास्त्रीय विधियों के वर्णन के कारण नाट्यशास्त्र भी नाट्यधर्मी है।

लोकधर्मी और नाट्यधर्मी के अन्य भेद

लोकधर्मी विधा नाट्यधर्मी का आधार है। लोकधर्मी पर ही नाट्यधर्मी का प्रासाद खड़ा होता है। मौलिक तत्त्व लोकधर्मी हैं और उसका परिष्कृत रूप नाट्यधर्मी है। लोकधर्मी और नाट्यधर्मी के दो-दो भेद बताए गए हैं[1] :— लोकधर्मी के २ भेद हैं—१. चित्तवृत्त्यर्पिका, २. बाह्यवस्त्वनुकारिणी। नाट्यधर्मी के २ भेद हैं—१. कैशिकी शोभा और २. अंशोपजीविनी।[2]

चित्तवृत्त्यर्पिका मनुष्य की सुखदुःखात्मक चित्तवृत्तियों का स्फुटीकरण है। बाह्यवस्त्वनुकारिणी में बाह्य वस्तुओं—कमल, सरोवर आदि का अनुकरणात्मक प्रदर्शन किया जाता है।

नाट्यधर्मी में कैशिकी शोभा में अंगों का विलास, नृत्य एवं गीत आदि का प्रयोग होता है। अंशोपजीविनी में पर्वत, विमान, यान आदि को पूर्णतः मूर्तरूप में प्रस्तुत न कर सकने के कारण आंशिक रूप में कृत्रिम ढंग से प्रदर्शित किया जाता है। आंशिक प्रस्तुति के कारण इसे अंशोपजीविनी कहते हैं।

---

१. सं० र० ७.२२–२६, ना० शा० सं० २४-२६।

२. सं० र० ७.२२–२६; ना० शा० स० २३–२६

किया गया है। उसका यह तात्पर्य है कि पूर्वरंग के अंगभूत नान्दी के बाद 'वेदान्तेषु' आदि नाटककार रचित नान्दी गायन सूत्रधार का कार्य है जिसके पश्चात् कवि का नाटक आरम्भ होता है।

किन्तु सूत्रधार और स्थापक की कार्यविधि के विषय में भरत द्वारा दिये हुए विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वरंग का सूत्रधार और प्रस्तावना का स्थापक भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे, और पूर्वरंग और नाटक भी पूर्णरूप से स्वतन्त्र प्रयोग थे।

सूत्रधार – भरतमुनि ने सूत्रधार का वर्णन करते हुए लिखा है - 'गानस्य च वाद्यस्य च पाठ्यस्यापि एकभावविहितस्य शास्त्रोपदेशयोगात् सूत्रज्ञः सूत्रधारस्तु।'[१] अर्थात् 'जो समानरूप से गान, वाद्य और पाठ्य को नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार (सिखाकर) उनका प्रयोग कर सके, उसे सूत्रधार कहते हैं।' भरतमुनि ने सूत्रधार के गुणों के विषय में आगे कहा है - 'जो प्रारम्भ में मंगलाचरण कहता हो, जिसकी वाणी निर्दोष हो, जिसमें इच्छित वाणी बना सकने का संस्कार हो, जो गीत, वाद्य, ताल और स्वर का पूर्ण ज्ञाता हो, जो विविध कलाओं का जानने वाला हो, जो छन्द और ज्योतिषशास्त्र के नियमों को जानता हो, जो राजवंश के इतिहास का अच्छा ज्ञाता हो, शास्त्रार्थ का ज्ञाता हो, साथ ही उसे समझकर उसका प्रवचन करता हो और उसका प्रदर्शन करने में भी समर्थ हो, उपर्युक्त गुण जिसमें हो वही सूत्रधार हो सकता है। वह सभी नटों का आचार्य होता है।[२] शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन में सूत्रधार के विषय में यह कहा है—

सूत्रयन् काव्यनिक्षिप्त वस्तु नेतृकथारसान्।
नान्दी श्लोकेन नान्यन्ते सूत्रधार इतिस्मृतः।।

जो नाट्यगत कथावस्तु, नायक और कथा के रसों को सम्यक् रीत्या व्यवस्थित करता है और नान्दी श्लोक के पश्चात् (नान्दी के अन्त में) नायक, कथावस्तु और रसों का संक्षेप में वर्णन करता है, वह सूत्रधार होता है। भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार सूत्रधार के साथ उसकी सहायता के लिये 'पारिपार्श्वक' और 'विदूषक' भी रहता है।[३] ये त्रिक कहलाते हैं। किन्तु आज उपलब्ध संस्कृत नाटकों में विदूषक सूत्रधार के साथ नहीं

---

१. ना. शा. ३५/९८ चौ. प्रकाशन।

२. ना. शा. ३५/६६-७३ वही।

३. ना. शा. ५/१३५-१३८ चौ. प्रकाशन।

Scanned with CamScanner

दिखाई देता। इसके अतिरिक्त भरत ने विदूषक के साथ अन्य पात्रों का भरत, ..., नन्दी, इत्यादि उल्लेख किया है, किन्तु इनके दर्शन भी संस्कृत नाटकों में नहीं होते।

नटी —भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में सूत्रधार के साथ 'नटी' का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु उपलब्ध संस्कृत नाटकों में सूत्रधार के साथ नटी रंगमंच पर दिखाई देती है। अतः यह अधिक संभव है कि इस नटी पात्र का समावेश उत्तरवर्ती नाट्याचार्यों ने किया हो। नटी सूत्रधार की पत्नी के रूप में चित्रित की गई है। सूत्रधार के बुलाते ही वह रंगमंच पर आकर नाट्य प्रयोग में उसकी सहायता करती है। नैकदा नटी और सूत्रधार का निजी (घरेलू भाषण) प्रस्तावना और मुख्य कथानक की सन्धि को जोड़ने के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। यहाँ 'रत्नावली' के नटी और सूत्रधार के संवाद को उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया जा सकता है। नटी अपनी पुत्री का विवाह किसी दूरस्थ पर द्वीप के तरुण के साथ निश्चित होने के कारण चिन्तित है। इस पर सूत्रधार कहता है कि विधि अनुकूल होने पर अभीष्ट की प्राप्ति निश्चित रूप से होती है। 'द्वीपादन्यस्मादिति......।' इसी वाक्य को दुहराते हुए यौगन्धरायण रंगमंच पर आकर 'रत्नावली' नाटिका के कथासूत्र को उपन्यस्त करता है। 'मुद्राराक्षस' और 'मृच्छकटिक' में भी नटी और सूत्रधार के निजी (घरेलू) संवाद द्वारा ही प्रस्तावना और मुख्य कथानक की सन्धि को सम्यक् रीत्या जोड़ दिया गया है।

प्रस्तावना-आमुख-स्थापना —भरत के निर्देशानुसार नान्दी के साथ पूर्वरंग समाप्त होने पर सूत्रधार खेले जाने वाले नाटक और उसके लेखक का नाम सूचित कर प्रस्तावना का आरम्भ कराता है।[1] भरतमुनि ने प्रस्तावना के स्वरूप का वर्णन नहीं किया है। किन्तु उत्तरकालीन आचार्यों ने उसके स्वरूप के विषय में यह कहा है कि नाटकों की प्रस्तावना वस्तुतः उनका (नाटकों का) वह आमुख प्रस्तावना या स्थापना (प्रस्तावना स्थापनेति द्विधा स्यादिदमामुखम्) है, जिसमें नटी अथवा विदूषक या पारिपार्श्विक सूत्रधार के साथ ऐसा आलाप-संलाप किया करते हैं (आज उपलब्ध संस्कृत नाटकों में सूत्रधार के साथ विदूषक नहीं होता) जिसमें प्रस्तुत अभिनय का आक्षेप करने वाले स्वविषयक अभिप्राय के सूचक चित्र-विचित्र वाक्यों का प्रयोग हुआ करता है।[2] विश्वनाथ ने प्रस्तावना और आमुख को एक ही माना है। 'स्थापना' शब्द का प्रयोग भी प्रस्तावना के अर्थ में ही होता आया है। भास ने अपने नाटकों में इसका प्रस्तावना के अर्थ में ही प्रयोग

---

१. ना. शा. ५/१५४।

२. सा. द. ६/३१-३२।

किया है। दशरूपककार ने उक्ताशय का ही अनुसरण करते हुए प्रस्तावना को ही 'आमुख' कहा है।[१] आगे धनिक ने कहा है कि मङ्गलाचरण आदि के कर लेने पर जब सूत्रधार रंगमंच पर से लौट जाता है तो उसी तरह की वेश-भूषा में आकर कोई अन्य नट नाटकादि-कथावस्तु के काव्यार्थ की स्थापना या सूचना देता है। यह नट काव्यार्थ की स्थापना, सूचना या प्रस्तावना करने के कारण स्थापक कहलाता है और उसके इस कार्य को 'स्थापना' कहा जाता है।[२] धनंजय ने प्रस्तावना के संवाद में ऋतुओं का उल्लेख करने के लिए कहा है।[३] शाकुन्तल में ग्रीष्म ऋतु का, मालविकाग्निमित्र तथा रत्नावली में वसंत ऋतु का, वेणीसंहार में शरद् ऋतु का उल्लेख परिलक्षित होता है।

इस प्रकार प्रस्तावना-आमुख-स्थापना की एकरूपता का विवेचन करने के पश्चात् हम सूत्रधार के कार्य को बताते हैं -सूत्रधार-प्रस्तावना के कथित अंगों-प्ररोचना, वीथी,[४] प्रहसन- और आमुख में से किसी एक के द्वारा भारती वृत्ति का आश्रय लेते हुए सुन्दर छन्दों में कवि के इष्ट देवताओं की वन्दना करता हुआ काव्यार्थ अर्थात् नाटक का विषय, नाम तथा नाटककार के गुणों का वर्णन करके तथा किसी उपयुक्त ऋतु की ओर संकेत करते हुए प्रस्तावना के आगे कहे जाने वाले पाँचों प्रकारों में से किसी एक प्रकार द्वारा अभिनेय नाटक का आरम्भ करा देता है।

प्ररोचना[५]— भारती वृत्ति के चार अंगों में से 'प्ररोचना' एक अंग है। इसका शाब्दिक अर्थ है - किसी के मन को किसी ओर लुभाना है। अतः यहाँ इसका अभिप्राय

---

१. द. रू. ३/८।

२. द.रू. ३/२ वृत्ति।

३. द.रू. ३/४।

४. 'वीथी' और 'प्रहसन' तो रूपक के भेद हैं। रूपक अंग नहीं। अतः इन्हें भारती वृत्ति का अंग के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। केवल अंश ही मानना युक्तियुक्त है। और 'आमुख' एक प्रकार से प्रस्तावना ही है। सा. द. ६/३२। ना. शा. अभिनवभारती, २०/२७।

५. द.रू. ३/५, सा. द. ६/३०
प्ररोचना की यह व्युत्पत्ति -
'प्रकर्षेण रोच्यते उपादेयतया ध्रियते प्रकृतोऽर्थोऽनयेति प्ररोचना'
नाट्यदर्पणकार ने प्ररोचना का अर्थ बताया है -
'पूर्वरंगे गुणस्तुत्या प्रस्तुतप्रबन्धार्थस्य प्रीत्यादिहेतुत्वप्रशंसनेनसामाजिकानां श्रवणावलोकनोत्साहोत्पादनम्' तृतीयविवेक, स्वोपज्ञ विवरणम्।
भरतमुनि ने प्ररोचना का लक्षण और प्रयोजन बताया है। ना. शा. २२/२७, चौ. प्रकाशन।

Scanned with CamScanner

रूपकादि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को रंगमंच पर प्रदर्शित किये जाने वाले रूपक के प्रति उन्मुख - आकृष्ट करना है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में नट अपने नाटक की प्रशंसा कर सामाजिकों को आकृष्ट करता है-

> श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी।
>
> लोकेहारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।।

वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुनर्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः।।

अर्थात् जिस रूपक के रचयिता श्रीहर्ष सरीखे महाकवि हों, जिस रूपक के दर्शक हमारे सामाजिकों सरीखे गुणग्राही हों, जिस रूपक का इतिवृत्त उदयन-वृत्तान्तसा मनोरंजक हो, जिस रूपक के अभिनेता हमारे नटों की तरह नट हों, भला उसकी सफलता का क्या कहना। जहाँ इनमें एक-एक भी विशेषता अभिनय की मनोवांछित सफलता का कारण हो, वहाँ हमारा यह सौभाग्य है कि समस्त विशेषताएँ यह प्रत्यक्षरूप से स्थित हैं।[1] ये प्ररोचनाएँ किसी नाटक में संक्षिप्त रहती है और किसी में विस्तृत।

प्रस्तावना — भरतमुनि ने कहा है कि नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक का सूत्रधार के साथ किसी सम्बद्ध विषय पर रोचक या विचित्र वचनावली में या 'वीथी' का कोई प्रकार प्रदर्शित करते हुए जो संवाद होता है, उसे 'आमुख' या प्रस्तावना कहते हैं।[2] नाट्यदर्पणकार ने भी उक्तार्थ का समर्थन इन शब्दों में किया है - उन्होंने कहा है कि सूत्रधार के साथ नटी अथवा विदूषक अथवा पारिपार्श्विक (अथवा तीनों) का प्रस्तुताक्षेपी भाषण ही प्रस्तावना या आमुख है।[3] 'प्रस्तावना' (अथवा आमुख) के ये पाँच प्रकार होते हैं—. (१) उद्धात्यक (अथवा उद्धातक), (२) कथोद्धात, (३) प्रयोगातिशय, (४) प्रवर्तक और (५) अवलगित। इन्हीं पाँचों प्रकारों को भरत ने बताकर कहा है कि एक रूपक-प्रबन्ध में इन पाँचों में से किसी एक की ही योजना अपेक्षित है।[4]

---

१. रत्नावली १/६।

२. ना. शा. २२/२८-२९, चौ. प्रकाशन।

३. ना. दर्पण ३/३ विवेक।

४. ना. शा. २२/३१, तथा ३६ वही।

Scanned with CamScanner

'विटचेटविदूषकाद्या:' में आदि शब्द से माली, धोबी, तमोली, गंधी आदि-आदि को भी 'सहायक' रूप में माना गया है।[१]

(i) विट— वह है जो कि वैषयिक सुख-भोग में अपनी धन-संपत्ति लुटा चुका हो, धूर्त हो, कतिपय कलाओं में निपुण हो, वेशोपचार चतुर हो, बातचीत में कुशल हो, स्वभाव का मधुर हो और जिसकी गोष्ठी में बड़ी पूछ हो।[२] नाट्यशास्त्र में भी विट का उक्त स्वरूप ही वर्णित है।[३]

(ii) चेट —जो पुरुष कलहप्रिय हो, बहुत बकवास करता हो, भद्दी सूरत वाला हो, किसी शर्त पर सेवा करता हो तथा मान्य और अमान्य पुरुषों का ज्ञान रखता हो, उसे चेट कहते हैं।

(iii) विदूषक — विशेषत: शृङ्गार-रस में, विदूषक, विट, चेट आदिपात्र नायक के सहायक होते हैं। विदूषक संस्कृत नाटकों का एक महत्त्वपूर्ण पात्र है। वह हास्य तथा व्यंग्य का प्रतीक है। उसकी वेशभूषा तथा बातचीत करने का ढंग हास्योत्पादक होता है। वास्तव में उसमें विदूषण सम्बन्धी शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओं का समावेश होता है। विदूषक शब्द का अर्थ ही है - रूप को विदूषित करने वाला - 'विदूषयति आत्मानमिति।' वह अपने विविध स्वांगों और भद्दे रूपों से, विशेषत: अपनी असंगत, असंबद्ध और विपरीत शब्दावली से दर्शकों को हँसाता है। अभिनवगुप्त ने विदूषक शब्द की जो व्युत्पत्ति दी है, वह पूर्ण रूप से विदूषक को लागू होती है - 'सुरतविषये, संधिग्रहणे,विग्रहे वा विग्रहसन्धिना दूषयति इति विदूषक:। विप्रलंभं विनोदेन दूषयति इति विप्रलंभसुहृत्।[४] भरत ने उसकी जाति तथा रूपाकृति का वर्णन करते हुए कहा है कि वह जाति से ब्राह्मण है। उसके दाँत बड़े एवं आँखें पिंगलवर्ण की होती हैं।[५] वह शरीर से बोना तथा विकृत रूप का होता है। विश्वनाथ ने उसे दूसरों से झगड़ने में आनन्द लेने वाला, ईर्ष्यालु तथा अपने कर्तव्य का ज्ञाता कहा है।[६]

---

१. सा. द. ३/४०।

२. सा. द. २-३/४१।

३. ना. शा. २५/१-७, ३५/७६-७७।

४. अ.ना. २४-५ टी. (अभिनवगुप्त-नाट्वेदविवृति)।

५. वामनो दन्तुरो कुब्जो द्विजन्मा विकृताननः।' ना. शा. २४/१०६।

६. सा. द. ३/४२।

Scanned with CamScanner

नाट्यदर्पणकार ने उसे खल्वाट कहा है।[1] वह राजा का अन्तरङ्ग मित्र होता है। इसी कारण वह राजा और रानी के साथ परिहास करता है। जाति से ब्राह्मण होने के कारण वह स्वभाव से ही पेटू, मधुर प्रिय, एवं भीरु प्रकृति का होता है। कभी-कभी उसके संवाद में उसकी तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय भी मिलता है जैसे, शाकुन्तल नाटक का विदूषक और मृच्छकटिक का मैत्रेय। प्राय: वह प्रत्युत्पन्नमति, बुद्धिमान्, प्रामाणिक तथा स्वामीभक्त के रूप में सामने आता है। जैसे, नागानन्द नाटक में विदूषक अपने स्वामी के साथ वन में जाता है। भरत ने नायक के चार भेदों के आधार पर विदूषक के भी चार भेदों का उल्लेख किया है।[2] लिङ्गी, द्विज, राजजीवी और शिष्य जो क्रमश: दिव्य, नृप, अमात्य तथा ब्राह्मण नायक के विदूषक होते हैं।[3] यहाँ उल्लेखनीय यह है कि विदूषक को ब्राह्मण नायक का शिष्य कहा गया है, किन्तु ऐसा विदूषक देखने में नहीं आता जो ब्राह्मण नायक का शिष्य रहा हो। नाट्यशास्त्र के अनुसार वह ब्राह्मण होते हुए भी प्राकृत-भाषा में ही बोलता है।[4] इसीलिये संभवत: नाट्यदर्पणकार ने उसे निम्न कोटि के पात्रों की श्रेणी में रखा है।[5] विभिन्न आचार्यों के अनुसार उसका नाम कुसुम, ऋतु, अथवा गोत्र से सम्बन्धित होता है।[6] वास्तव में विट, चेट और विदूषक आदि वे सहायक पात्र हैं जो कि शृङ्गारी नायक के सहायक होते हैं। इनमें से विदूषक की योजना नाटक में हास्यरस की उत्पत्ति के लिये की जाती है। इतना निश्चित है कि नाट्य कथानक के विकास में कभी-कभी उसकी बुद्धिमत्ता, कभी उसकी स्वामीभक्ति और कभी उसकी मूर्खता सहायक होती है। इसका उत्तम उदाहरण 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का 'गौतम' है। जो संपूर्ण कथासूत्र का एक प्रकार से संचालक ही प्रतीत होता है। इसके पश्चात् नम्बर आता है 'मृच्छकटिक' के मैत्रेय का। संस्कृत नाटकों में प्रणय प्रधान नाटकों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है और इसीलिए संभवत: प्रत्येक प्रणयप्रधान नाटक में विदूषक उपस्थित होता है। किन्तु इन सभी नाटकों में विदूषक का रूप एक ही सांचे में

---

१. ना. द. पृ० १७७।

२. भा. ना. (भारतीय नाट्यशास्त्र) ३४-२१, २२ चौखम्भा प्रकाशन।

३. ना. शा. ३४/२२।

४. ना. शा. १८/३८।

५. ना. द. पृ० १७७।

६. सा द. ३/४२।

Scanned with CamScanner

	नायक	हास्य और शृङ्गार से भिन्न।		अन्य।
समवकार	प्रख्यात, नायक प्रसिद्ध	त्रिविध शृङ्गार, वीर, रौद्र	३	सभी वृत्तियाँ, कैशिकी वृत्ति की स्वल्पता।
वीथी	उत्पाद्य	शृङ्गार। अन्य रसों की झलक मात्र	१	कैशिकी वृत्ति। कैशिकी की वृत्ति की स्वल्पता।
अंक	प्रख्यात वस्तु नायक सामान्यजन	अंगीरस करुण	१	भाण की तरह वृत्यङ्ग।
ईहामृग	मिश्रित इतिवृत्त मानव-देव में से कोई एक नायक	रौद्र, शृङ्गार / भास	४	भाण की तरह वृत्यङ्ग।

भरतवाक्य — संस्कृत नाटकों में नाटक के अन्त में 'भरतवाक्य' कहकर लोक-मंगल की कामना करने की प्रथा रही है। भास से सभी उत्तरवर्ती नाटककारों के नाटक 'भरतवाक्य' के साथ समाप्त होते हैं। किन्तु नाटकों के इस अन्तिम अंश को 'भरतवाक्य' की संज्ञा से सर्वप्रथम किसने संबोधित किया या 'भरतवाक्य' कब से प्रचलित हुआ, इसका संकेत नहीं मिलता। 'भरतवाक्य' का सामान्य अर्थ है - भरतों का अर्थात् नटों का वाक्य। 'शाकुन्तल' नाटक के प्राचीन टीकाकार 'राघवभट्ट' ने इस प्रथा के मूल के विषय में इस प्रकार कल्पना की है कि नटों को प्रारम्भ से अर्थात् प्रस्तावना के पश्चात् अपनी अभिनय भूमिका के अतिरिक्त अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता नहीं रहती। अतः अन्त में उन सभी नटों के मुख से कहे जाने वाला वाक्य ही भरतवाक्य है। 'नाटकाभिनयसमाप्तौ नटेन आशीर्दीयते इत्यर्थः। प्रस्तावनान्तरं नटवाक्याभावात् अत्र भरतवाक्यम् इति उक्तः।' अतः आशीर्वादात्मक नान्दी से प्रारम्भ होने वाले नाटक की समाप्ति भी नटों के आशीर्वादात्मक वाक्यों से हो, यह उचित ही है। वस्तुतः भरतवाक्य में भी नटों का आशीर्वाद ही निहित रहता है।

नाट्यशास्त्र के अन्य आचार्यों के मत में 'भरतवाक्य' भरतमुनि के गौरवार्थ प्रयुक्त एक वाक्य है। भरतवाक्य में सामान्यतः नृप, देश, देव, आदि का उत्कर्ष ईप्सित होता

Scanned with CamScanner

कि आज भी देखा जाता है। इन मण्डलियों के एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर व्यवसायवश नाट्यप्रस्तुति देने का विवरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलता है जो अति-प्राचीन-काल से चलता हुआ आज भी व्यवहार के उपयुक्त बना हुआ है। इस मण्डली में कुछ कुछ बड़े व्यक्ति भी रहते थे जिनमें नाट्यकार या नाट्यरचनाओं का लेखक भी होता था तथा जो नाट्य-निर्देशक या नाट्याचार्य के साथ संलग्न होकर या सहायक के रूप में भी रहता था।

पात्रों की भूमिका—भरत के नाट्यशास्त्र का पैंतीसवां अध्याय 'भूमिका-विकल्प' नामक है। इसमें भरत ने भूमिकाओं के विषय में तात्विक विवरण दिया है। नाट्य की लोकवृत्तानुकारिता को ध्यान में रख कर प्रयोज्य तथा प्रयोक्ता पात्रों को प्रकृति, आचार, आकृति तथा वेश-भूषा की विभिन्नता स्वाभाविक होती है अतः लौकिकदृष्टि से सामान्यस्तर का पात्र भी अपना प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम होता है, जहां यह पात्र आचार्य-बुद्धि तथा अपनी प्रतिभा और श्रम से इसे सम्पन्न करता है। इसी कारण पात्र की भावभंगिमाओं तथा आकृति की परीक्षा कर के ही तदनुरूप भूमिका देने का भरत ने विधान रखा, क्योंकि पात्र के सहजात गुण की भी इसमें अपेक्षा होती है तथा केवल नाट्याचार्य की बुद्धि के निश्चय से ही उपयुक्त भूमिका नहीं दी जाती है।

भरत ने दिव्य तथा मानवादि विभिन्न श्रेणी के पात्रों की आकृति, प्रकृति, देश, वेष आदि का विवरण प्रस्तुत करते हुए बतलाया कि दिव्यपात्रों की भूमिका में सुगठित शरीरवाले प्रियदर्शी तथा सुस्वरशाली पात्र को रखा जाता है तथा गम्भीर या स्थूलस्वर, स्थूल तथा लम्बे शरीर के पात्र को राक्षस या दानव की भूमिका दी जाती है। मानव भूमिकाओं में पात्रों का अंगसौष्ठव, गतिशीलता, चेष्टाएं तथा स्वरादि का वैशिष्ट्य भी ध्यान में रखते हैं एक सन्तुलित रूप में ही। अतः राजा, राजपुत्र आदि की भूमिकाओं के लिये ऐसे पात्र उपयुक्त होते हैं। भरत के इन विधानों से पात्रों का चयन करते हुए प्रयोज्य नाट्य को प्रस्तुत करना उपयुक्त होता है यह स्पष्ट है।

प्रकृति—भरत ने विभिन्न भूमिकाओं के लिये चयन करने के आधार को उपयुक्तता देने के लिये उनकी प्रकृति तथा परम्परा को ध्यान में रख कर तथा उन्हें तीन प्रकृति में समाहार कर भूमिका के उपयुक्त सभी रूपों का समावेश किया है। ये हैं—(१) अनुरूपा, (२) विरूपा तथा (३) रूपानुरूपा।

Scanned with CamScanner

अनुरूपा—प्रकृति—नाट्यकार के इष्ट पात्र की प्रकृति के अनुरूप भी सहज प्रकृति रहती हो अथवा पुरुषपात्र के पुरुषभूमिका में एवं स्त्रीपात्र की स्त्री भूमिकाओं में देश, काल, वय तथा अवस्था भाषा आदि के अनुरूप ही जब प्रयोग में प्रस्तुत किये जाए तो यह 'अनुरूपा प्रकृति' कहलाती है। अतः यह सहजरूप के आधार से सदैव 'प्रयोज्यभाव' की अर्हता रखती है।

विरूपा-प्रकृति—जब पात्र अपनी प्रकृति से विपरीत भूमिका को प्रस्तुत करता है। यह स्थिति तब आती है जब वृद्ध किसी बालक की, बालक वृद्ध की भूमिका करता हो तो यह 'विरूपा प्रकृति' होती है जिसका सामान्यतः मुनि ने निषेध किया है। इस प्रकार स्थिति तथा कार्य के वैषम्य के आधार-पर ऐसी भूमिका रहती भी है तथा पात्र के लिये इनका निर्वाह एक कसौटी भी होता है जो उनकी शास्त्रज्ञानजन्य अभ्यास की दृष्टि से उन्हें सफलता भी अधिक दे देती है। अपनी कला साधना से जब अनुपयुक्त भूमिका को भी न्यायतः प्रस्तुत किया जाता है परन्तु यह असामान्य नियम में ही आता है। अतः आचार्य अभिनवगुप्त ने ऐसी भूमिकाओं को भी अनुपयुक्त माना है।

रूपानुरूप प्रकृति—पुरुषपात्र के द्वारा स्त्रीपात्र की तथा स्त्रीपात्र के द्वारा पुरुषभूमिका में अवतरित होता हो तो यह रूपानुरूपा या रूपानुसारिणी भूमिका है।

इनमें 'अनुरूपा' प्रकृति के स्वरूप से भरत का आशय यही है कि पात्र अपने प्रयोग काल में अपनी भूमिका की आत्मा की गहराई तक आविष्ट होकर आहार्य विधि के अनुसार अपनी आकृति तथा वेष को भी वैसा ही रखते हुए आंगिक चेष्टाओं तथा वाणी को भी तदनुसार ही रखे और वह अपनी भूमिका के अनुरूप अवस्था, आकृति तथा प्रकृति की दृष्टि से भी स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत होकर यथार्थ की झलक दे तो नाट्यप्रयोग सफल होता है। इसलिये भारतीय नाटकों की सामान्य विशेषता के रूप में यह 'अनुरूपा' प्रकृति है। इसी प्रकार यदि पुरुषपात्र द्वारा स्त्री की तथा स्त्रीपात्र द्वारा पुरुष की भूमिका ली जाए तो ऐसी विपरीत कार्य स्थिति के रहने पर 'विरूपा' का विधान है। नाट्य प्रयोग में ऐसी भूमिका का प्रचलन प्राचीन काल से ही प्रचलित था। इसी कारण भरत ने इस प्रकृति के विशेष नियम भी प्रस्तुत करने के लिये दिखलाये, जिससे यह स्पष्ट है कि यह परम्परा बड़ी प्राचीन तथा एक विशिष्ट नाट्यशिल्प है। यह नाट्यप्रयोग की सामान्य स्थिति नहीं है, और यह कभी कथावस्तु की अपेक्षा से, कभी पात्रों

Scanned with CamScanner

वस्त्रालंकार धारण कर लेता है तो वह रंग प्रदेश में राजा सा दिखता ही है तथा यह कार्य लोकवृत्त के अनुकरण का आधार लेकर रखा जाता है। यह कार्य योग्य निर्देशक अपनी बुद्धि से उपयुक्त पात्र को प्रशिक्षित कर देता है। जिससे नट राजा की तरह बन सके।[1] भरत के ऐसे उल्लेख से नट के देवरूप से भूमिका ग्रहण करने आदि में भी नाटयधर्मी विधान की योजना की भी सहमति मिलती है जिससे सभी नाट्य प्रयोग प्रस्तुत करने में आचारण नियम की परिपाटी बन सके।

नाट्यमंडली के महत्वपूर्ण व्यक्तित्व—भरत ने नाटयप्रयोग के विवरण को पूर्णता देने की भावना से उसके साधक वर्ग का तात्विक आकलन भी किया। नाटयप्रयोगों की व्यापक स्थिति तथा अपेक्षा रहने के कारण उसकी पूर्ति में लगने वाले नाटयनिर्देशन तथा शिल्पिवर्ग के अतिरिक्त एक लम्बी कलाकारों की संख्या का भी महत्व होता है तथा इसी कारण भरत ने इस रंगशिल्पी वर्ग का भी विवरण दिया। इनमें सूत्रधार, स्थापक, पारि-पार्श्वक, संगीताचार्य, नाटयकार, वीणावादक, मृदंगवादक, शिल्पी, आभरणकार आदि आते हैं। ये सभी रंग मञ्च पर उपस्थित पात्रों के अतिरिक्त होते हैं तथा अपने विविध कार्यों तथा प्रयोगों के समन्वय के द्वारा नाटयप्रस्तुति को पूर्णता तथा सफलता तक पहुँचाते हैं। इनमें से क्रमशः कुछ का विवरण आवश्यक है जिसे मुनि ने भी मनोयोग से रखा।

सूत्रधार—(एक आदर्शभूत नाटयनिर्देशक)—सूत्रधार जो कि नाटक निर्देशक भी होता है तथा आचार्य भी अतः भरत ने उस सर्वप्रमुखता के साथ सिद्धान्त और व्यवहारगत अनेक उत्तरदायित्व भी दिये हैं और उसके कार्य तथा योग्यता के आवश्यक गुणों से युक्त उसका लक्षण भी दिखलाया है। भरत के अनुसार किसी आदर्श सूत्रधार का लक्षण इस प्रकार रहेगा—सूत्रधार नाटयप्रयोग के सूत्र का संचालन करने के कारण 'सूत्रधार' है जो प्रयोग का प्राण बन कर पात्रों को गति तथा जीवन देता रहता है। आवश्यकतानुसार यह स्वयं भी रंगमंच पर उपस्थित होता है तथा एक भूमिका भी ले लेता है, परन्तु इसका मुख्य कार्य प्रस्तावना या स्थापना के माध्यम से नाट्य का आरम्भ करना रहता है। नाटयप्रयोग इसी की प्रेरणा तथा कल्पना पर आधृत रहने से भरत ने सूत्रधार के सहज तथा उपार्जित गुणों का विवरण देकर उसके आदर्श एवं महत्तर व्यक्तित्व को उकेरा है। इसके

१. ना० शा० ३५।२७–६४

मत में यह सभी शास्त्रकर्मों का अभिज्ञ तथा वाद्यवादन वाल, लय तथा गीत का तात्विक परिज्ञाता, नाट्यप्रयोग में कुशल, वेषोपचार निपुण, देह व्यापार की सूक्ष्मताओं से परिचित, देश तथा प्रदेशों के वृत्तों का परिज्ञान रखने वाला, कुलीन तथा शास्त्रों के तात्विक निर्णय में पारंगत तथा विविध लौकिक शिल्पों तथा कार्यों का दक्ष विज्ञाता और सहज गुणों से समृद्ध जैसे विनीत, मधुरभाषी, अनुकूल तथा क्रोधादि दोष से रहित होता है। इसी की प्रेरणा से कवि की रचना के भावों का प्रेक्षक से सन्तुलित समागम सम्भव होता है।

पात्र तथा प्रस्तोता—सूत्रधार प्रस्तावना को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार पात्र के रूप में भी रंगमंच पर प्रस्तुत होता है तथा प्रस्तावना के क्रम में यह नटी तथा कुशीलव या पारिपार्श्वक के साथ नाट्यारंभ तथा गीतों को प्रस्तुत करने में योग देता है। यह नाट्यप्रयोगों का उपदेष्टा या निदर्शक ही नहीं, स्वयं मञ्च पर पात्र के रूप में उपस्थित रह कर नाट्यरचना-गत गीत एवं अभिनयों का प्रयोक्ता भी होता है। अभिनेता पात्र और शिल्पी जहाँ नाट्यप्रस्तुति के एक अंग की पूर्णता में योग देते है वहाँ सूत्रधार इनके समग्र पहलुओं को देखता है तथा उनमें एक प्रमुख व्यक्ति के रूप में योगदान करता है। यह नाट्यप्रयोग की सफलता का आधार होता है।

स्थापक—सूत्रधार के दो प्रमुख सहायक तथा प्रयोक्ताओं में स्थापक तथा पारिपार्श्वक सर्वाधिक महत्व के कारण उल्लेखनीय हैं। पूर्वरंग के उपरान्त सूत्रधार के रंगमञ्च से निष्क्रमित हो जाने पर प्रयोज्य काव्य की स्थापना के लिये स्थापक का प्रवेश होता है जिसकी सूत्रधार के समान ही गुण तथा आकृति का नाट्यशास्त्र में विधान है। यह नाट्यप्रयोग की स्थापना का कार्य सम्पन्न करता है। उत्तरवर्ती शास्त्रकारों ने पूर्वरंग के सम्यक् प्रयोग के पूर्णतः प्रचलित न होने के कारण एक सूत्रधार के ही द्वारा स्थापना का भी कार्य किये जाने की बात कही।

पारिपार्श्वक—यह सूत्रधार की अपेक्षा गुणों में उससे कुछ न्यून रहता है पर मध्यम प्रकृति का पात्र होता है। यह सूत्रधार का सहचरभूत, नाट्यविधान का परिज्ञाता, उज्ज्वल वेषधारी तथा कार्य निपुण होता है तथा कलाविद् भी।

नाट्य कार—यह नाट्य रचना का स्रष्टा है तथा नाट्यप्रयोग के लिये

Scanned with CamScanner

एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व है जो अपनी काव्य रचना की प्रातिभ शक्ति से समग्र-प्रयोग को प्रखर शक्ति और सिद्धि देता है।

नट—यह नाट्यप्रयोग के काल में अपना स्वभाव त्यागकर प्रयोज्य पात्र के स्वभाव से समाविष्ट होकर तद्रूपापन्न हो जाता है। इसका नट शब्द अभिनय तथा नृत्य दोनों की परम्परा का संकेत देता है तथा यह भी इन दोनों कार्यों को रंगमञ्च पर प्रस्तुत कर देता है। यह बहुभाषाविद् तथा चतुर्विध अभिनय का परिज्ञाता और प्रयोक्ता होता है। बाद में सभी नाट्यप्रयोग-कर्त्ता के लिये यह एक संज्ञा बन गई। इनमें जो सर्वाधिक दक्ष और अनुभव-शाली होता था वह 'महानट' कहलाता था तथा सूत्रधार या पारिपार्श्विक आदि का भी इसे ही कार्य करना होता था। इसकी अन्य संज्ञा 'भरत' भी है।

नटी—प्रस्तावना में सूत्रधार के साथ नटी भी प्रायः उपस्थित रहती है जो सूत्रधार की भार्या होती है तथा इसी कारण सूत्रधार इसे आर्ये पद से सम्बोधित करता है, जिससे प्राचीनकाल में नाट्यव्यवसाय करने वाले नट परिवार का भी बोध होता है क्योंकि यह उनकी वंशानुगत जीविका हो गयी थी। इसमें नाट्यप्रयोग पति तथा पत्नी आदि मिलकर प्रस्तुत करते रहते थे। यह स्त्री पात्रों की व्यवस्था तथा रंगकर्मगत परिधानादि के धारण करवाने तथा नेपथ्य रचना का भी कार्य देखती रही होगी। नटी गीत तथा नृत्य में भी चतुर होती थी तथा मञ्च पर प्रस्तुत करती थी।

नर्तकी या नाटकीया—रङ्ग पर नृत्य को पूर्णविश्वास तथा शास्त्रज्ञान को प्रस्तुत करने वाली, रसभावविभाविका तथा लय तालविशेषज्ञा सर्वाङ्ग सुन्दरी ललना 'नर्तकी' होती है जो अभिनय भी नाट्यप्रयोजनवश प्रस्तुत करती है। यह जब उत्तम शिल्पज्ञान तथा अभिनय भी नाट्यप्रयोग में प्रमुखता से करती है तो 'नाटकीया' के रूप में भी 'भरत' ने निर्दिष्ट की है।

तौरिक—यह एक ओर तो नाट्य के उपयुक्त वाद्यवादन का सम्पादन करता था तथा दूसरी ओर युद्ध के दृश्यों में वीरता के कार्य भी करता था। इसकी वादन और युद्ध काल में दक्षता के कारण यह नाट्यारंभ में प्रस्तुत स्तुतिगीत का भी गायनादि किया करता था।

नाट्यप्रयोग का शिल्पी समुदाय—अन्य नाट्यप्रयोग के सहायकों में शिल्पी जन की भी एक बड़ी उपयोगी चर्चा भरत ने की। इनमें मुकुटकर

नाटयप्रयोग में आने वाले पात्रों के उपयुक्त मुकुटों की रचना [illegible] उन्हें पात्रों को धारण करवाता था। आभरणकृत् विविध [illegible] तथा प्रत्यंगों में धारण किये जाने वाले पुरुष तथा [illegible] मनोहारी आभरणों का (आहार्य अभिनय के [illegible] रखकर) निर्माण करता है। माल्यकृत् विविध [illegible] मालाओं की पात्रों के अनुरूप रचना कर पात्रों को [illegible] करता था। वेषकृत्—पात्रों की वेष रचना करता है [illegible] वेष का कविकल्पित पात्र में उसकी मनोदशा, वय तथा [illegible] कता को ध्यान में रखकर वेष की रचना नाटयप्रयोग [illegible] जिसे वेषकार की नियुक्ति से साधा गया है। चित्रकार—[illegible] बहुत से कार्य तथा अपेक्षाओं की पूर्ति हेतु रखा जाता [illegible] निर्माण के समय उसकी रंगपीठ की भित्तियों पर वह [illegible] तथा नाटयगृह की आन्तरिक और बाह्य शोभा के [illegible] वर्णलेप से सुन्दर बनाता है। यही नाटयप्रयोग के [illegible] मुखाकृतियों को भी विविध रंगादि से रञ्जित करता है [illegible] नाटयधर्मी मुखौटों को चमकीले रङ्गों से रञ्जित करता है। [illegible] पात्रों के विविध वस्त्रों को रङ्गता तथा उन्हें [illegible] समयानुरूप वेषों के वस्त्रों को नाटयप्रयोग के लिये [illegible]

कारुक—नाटय के उपयुक्त सामग्री को निर्मित [illegible] लोहा, पत्थर, मिट्टी तथा लाख आदि का प्रयोग [illegible] उपयोगिता सदैव बनी रहती है क्योंकि वह ऐसी [illegible] नाटयाभिनय में पात्रों के प्रयोग में आती है। [illegible] इसका योगदान रहता ही है किन्तु पात्रों के धारण [illegible] शस्त्र तथा कृत्रिम वस्तुओं का निर्माण बिना कारुक के [illegible] इस प्रकार भरत के ऐसे विवरणों से उसकी विलक्षणता [illegible] अपेक्षाओं को भी पूर्ति कर नाटय प्रयोग के पूर्ण [illegible] निर्देशन भी कम महत्व का नहीं है।

कुशीलव—यह वाद्ययन्त्रों को समुचित [illegible] निपुण तथा आतोद्य की कुशल योजना के कारण कुशीलव [illegible] प्राचीन नाटकों की प्रस्तावनाओं तथा अन्यत्र भी [illegible] हैं तथा गायन और वादन की कुशलता के कारण [illegible] सदा अपेक्षा रहती थी जो इनकी उपयोगिता और महत्व [illegible] करती है।

भरत—इन विवरणों से भरत ने नाट्यप्रयोग के सभी अंगों तथा उपकरणों का बड़ी सूक्ष्मता से विवेचन किया है। नाट्यशास्त्र में नाट्यप्रयोक्ता के लिये एक संज्ञा 'भरत' दी गयी है जिसके अन्तर्गत सूत्रधार से लेकर सभी पात्र तथा शिल्पी गण का समावेश होता है। इनमें प्रत्येक स्वयं में एक स्वतन्त्र व्यक्ति भी है तथा जिसकी कला के योग से नाट्यप्रयोग के एक अङ्ग की पूर्ति होकर समग्र प्रयोग की सफलता निर्मित होती है। अतः नाट्यशास्त्र में परिगणित प्रत्येक शिल्पकार तथा पात्र आदि नाट्यप्रयोग को जीवन, रस तथा शक्ति प्रदान करने के कारण इनकी परिगणना रखी गयी है। इससे नाट्य का प्रयोगपक्ष भी सुगम हो जाता है।

नाट्य तथा नाट्यप्रयोग, नटवर्ग की सामाजिक स्थिति—नाट्यशास्त्र के छत्तीसवें अध्याय के दो भागों में जो कि कुछ प्रतियों में सैंतीसवां अध्याय भी है तथा जिन पर अभिनवगुप्त ने व्याख्या भी की है इनमें नटवंश की सामाजिक स्थिति के परिष्कार के साथ नाट्यप्रयोग के कार्य को पवित्रता के साथ एक उन्नत अनुष्ठान के रूप में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि भी भरत ने रखी है। इसी गुह्य तथ्य को मुनि ने प्राचीन आख्यान के साथ आत्रेय आदि श्रोता मुनि तथा ऋषियों के समक्ष रखते हुए तथ्यपरक सहमति की चाहने की इच्छा से सभी बात बतला कर उनसे 'नाट्ययज्ञ' की निरन्तरता की फलश्रुति भी करते हुए इस कर्म के सामाजिक महत्त्व को दिखलाया है। अब हम इस तथ्य पर भी थोड़ा विवरण देंगे जिसमें नाट्यप्रयोक्ता नटों का सामाजिक उत्थान, उनकी स्थिति तथा जीविका और उनके पतन का इतिहास बतलाया गया जिनके विश्लेषण से इन पात्रों के ह्रास को पुनः अभ्युत्थान में बदलने की भावना का भी दर्शन होता है।

नाट्यशास्त्र के द्वारा इनके इस आख्यान से इस पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। भरत ने इस आख्यान को मुनिजन को नटों तथा उनके वंश के शूद्र वर्ग में रहने की बात को लेकर प्रश्न के उत्तर में उन्हें बतलाया कि मेरे पुत्रों ने अपने प्रस्तुत होने वाले नाट्यप्रयोगों में प्रसंगवश मुनिजन का विनोद सृजन के लिये उपहास किया। अपने अकारण उपहास से मुनिजन खिन्न हुए तथा क्रोध में भरकर उनने भी इन भरतपुत्रों को अभिशाप दिया कि ये शूद्राचार होकर निर्ब्रह्मण और हीन दशा का जीवन यापन करें तथा इनका वंश भी सामाजिक प्रतिष्ठा से हीन होकर रहेगा। इस शाप के देने पर भरत ने उनसे विनयपूर्वक उनके क्रोध के शान्त होने पर इस 'नाट्यशास्त्र' के नष्ट होने की बात को न होने की पुनः प्रार्थना की तथा देवता

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

भूमिका-विकल्पाध्याय

विभागं[1] भूमिकानान्तु सम्प्रवक्ष्यामि नाटके।
यादृशैरेव[2] कर्तव्याः पुरुषैर्भूमिकास्तथा ॥ १ ॥

नाटकों में जिन पुरुषों के द्वारा जिन विभिन्न भूमिकाओं[1] को ग्रहण किया जाता है उन्हीं का अब मैं विभाग पूर्वक वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

भूमिका प्रदान करने का सामान्य-सिद्धान्त—

गतिवागङ्गचेष्टाभिः सत्वशीलैः[3] समासतः।
परीक्ष्य पात्रं तज्ज्ञस्तु[4] युञ्ज्याद् भूमिनिवेशने ॥ २ ॥

नाटक में भूमिका ग्रहण करने वाले व्यक्तियों की गति, वाणी, आंगिक हलचल या चेष्टाओं के साथ उनकी सामर्थ्य और प्रकृति पर विचार करते हुए (नाट्यशास्त्र के) विद्वान् आचार्य अभिनेताओं को (उनके) अनुरूप भूमिका प्रदान करे ॥ २ ॥

तस्माद्विषस्य[5] हि गुणान् कार्यः पात्रसमाश्रयः।
न खेदजननं[6] बुद्धेराचार्यस्य भविष्यति ॥ ३ ॥

---

१. यद्यपि नाट्यविषय में 'आतोद्य' पर्यन्त निरूपण के बाद अन्य कथनीय तत्व नहीं रहते हैं तथापि नाट्यशास्त्र की प्रवृत्ति के कठिन एवं कष्टसाध्य रहने के कारण नाट्याचार्य को भूमिका प्रदान करते समय सरलता से सभी बातें ज्ञात रहने से नाट्यप्रयोग सफल होता है। इसी कारण इस अध्याय का एक प्रयोजन 'नाट्याचार्य' को भूमिका के लिये उपयुक्त पात्र चयन करने के लिये लक्षणादि निर्देश द्वारा शिक्षण भी है। क्योंकि भूमिका नाट्यप्रयोग का आधार स्थान (अवष्टम्भस्थान) मानी जाती है।

---

१. विन्यासं—क०, ख० भूभागं—ग०।

२. यादृशो यस्य कर्तव्यो विन्यासो भूमिकास्त्वथ—क०; यादृश्यो यस्य कर्तव्या विन्यासे भूमिकास्ततः—ख०।

३. सत्वशीलस्वभावतः—क, ···शील समासतः—ग०।

४. तज्ज्ञास्तु—ख० घ०, तज्ज्ञैस्तु योज्या भूमि निवेशयेत्—क (भ०)

६. जनना—क (भ०)।

अतएव अभिनेताओं का चुनाव उनके गुणों के परीक्षण के बाद करना चाहिये। निर्देशक आचार्य को ऐसा करने पर फिर किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी ॥ ३ ॥

आचार्यः[1] पात्रज्ञाँश्चैव गुणान् ज्ञात्वा[2] स्वभावजान्[3] ।
ततः कुर्याद्यथायोगं[4] तेषां भूमिनिवेशनम् ॥ ४ ॥

और पात्रों की सहजक्षमता और अभिनय-कौशल का पता लगाकर तदनुसार ही निर्देशक आचार्य (विभाजन करते हुए उन्हें) उनको भूमिकाएँ प्रदान करें ॥ ४ ॥

देवताओं की भूमिका—

अङ्गप्रत्यङ्गसंयुक्तमहीनाङ्गं वयोऽन्वितम् ।
न स्थूलं न कृशश्चैव न दीर्घं न च मन्थरम् ॥ ५ ॥
श्लिष्टाङ्गं द्युतिमन्तश्च सुस्वरं प्रियदर्शनम् ।
एतैर्गुणैस्तु संयुक्तं देवभूमिषु योजयेत् ॥ ६ ॥

जिस पुरुष के शरीर के सभी अवयव व्यवस्थित (या अखण्ड) और अच्छी तरह संवारे हुए हों, जो पूर्णतः विकसित हो या जिसकी अवस्था विकसित हो, जो न मोटा और न अधिक पतला हो, न ऊँचा और न धीमा हो, जिसके सभी अवयव एक दूसरे से आश्लिष्ट एवं कान्तिवान हों, जिसकी आवाज मधुर हो और जिसका स्वरूप दिखने में सुन्दर हो तो ऐसे गुणों वाले पात्र को 'देवता' की भूमिका प्रदान की जाए ॥ ५-६ ॥

राक्षस आदि की भूमिका—

स्थूलं प्रांशुं बृहद्देहं मेघगम्भीरनिःस्वनम् ।
रौद्रस्वभावनेत्रश्च स्वभावभ्रुकुटीमुखम् ॥ ७ ॥
रक्षो दानवदैत्यानां भूमिकासु[5] प्रयोजयेत् ।
पुरुषाणां प्रयोगस्तु [6]तथाङ्गक्रिययान्वितः ॥ ८ ॥

तथा जो पुरुष मोटे और लम्बे कद के हों, जिनकी ध्वनि मेघ के समान गहरी और कड़ी हो, जिनकी सहज दृष्टि भी भयानक दिखलाई पड़ती हो

१. अद्यायोपभजा (?) श्चैव—ख०; आद्यादोपगमज्ञाश्च—घ० ।
२. तज्ज्ञः—घ० । ३. स्वभावतः—क (भ०) ।
४. यथान्यायं—क (र०)
५. भूमौ तं सम्प्रयोजयेत्—क (भ०) ।
६. अस्तब्धाङ्गक्रियान्वितः—क (भ०) ।

Scanned with CamScanner

तथा मुँह पर भी जिनके सदा क्रोधी के समान भ्रुकुटी चढ़ी हुई रहती हो तो ऐसे पात्र को राक्षस, दानव या दैत्य की भूमिका दी जाए तथा पुरुषों की भूमिका में उनकी आंगिक चेष्टाएँ अतिशय संपुष्ट रखी जाएँ ॥ ७-८ ॥

राजा तथा कुमार की भूमिका—

सुनेत्राः[1] सुभ्रुवः स्वङ्गाः सुललाटाः सुनासिकाः ।
स्वोष्ठाः सुगण्डाः सुमुखाः सुकण्ठाः[2] सुशिरोधराः[3] ॥ ९ ॥
स्वङ्गप्रत्यङ्गसंयुक्ता[4] दीर्घाश्च मदमन्थराः ।
न स्थूला न कृशाश्चैव स्वभावेन व्यवस्थिताः ॥ १० ॥
सुशीला ज्ञानवन्तश्च तथा च प्रियदर्शनाः ।
कुमारराजभूमौ[5] तु संयोज्या भरतोत्तमाः ॥ ११ ॥

पात्र जो उत्तम प्रकार के हो, जिसकी सुन्दर आँखे हों, अच्छी भौंहें हों, उन्नत ललाट हो तथा जिनकी नासिका, ओष्ठ, मुख, कपोल और ग्रीवा आदि प्रत्येक अवयव सुन्दर हों, जो ऊँचे पूरे कद के हों, जिनको देखकर प्रसन्नता होती हो और मद के कारण मन्थर गति जैसे लगते हों, जो न मोटे न पतले हों तथा अपने सहज व्यवहार में लीन हों, जो प्रकृति से ही सुशील और बुद्धिमान् हो तथा जिनका दर्शन अच्छा लगता हो तो ऐसे पुरुष को राजा या राजकुमार की भूमिका देनी चाहिये ॥ ९-१० ॥

सेनापति एवं अमात्य की भूमिका—

अङ्गैरविकलैर्धीरं[6] स्फुटं वचनकर्मणि ।
न दीर्घं नैव च स्थूलमूहापोहविचक्षणम् ॥ १२ ॥
अदीनश्च[7] प्रगल्भश्च प्रत्युत्पन्नविनिश्चयम्[8] ।
सेनापतेरमात्यानां भूमिकासु[9] प्रयोजयेत् ॥ १३ ॥

वे पात्र जिनके अवयव पूर्ण एवं पुष्ट हो, उत्तम एवं स्पष्ट वाणी से जिनकी वीरता प्रकट होती हो, जो न अधिक मोटे और न ऊँचे हों, जो किसी

१. सुनेत्रसुभ्रुवः—क० ।
२. सुदन्ताः—क (र); सुवर्णाः—क० (भ०) ।
३. सुसमाहिताः—क० (र) । ४. अङ्ग क (भ०) ।
५. भूमीषु प्रयोज्या—ख०; सुकुमाराश्च संयोज्या राजभूमो नटोत्तमाः—क० (भ०) । ६. धीरं स्फुटं वसनकर्मणि—क० ।
७. अहीनश्च—ख० । ८. प्रत्युन्नत—ख० ।
९. भूमौ तं सम्प्रयोजयेत्—क० (भ०) ।

Scanned with CamScanner

जो तत्त्व के ऊहापोह में चतुर हों, जो कभी दीन वचन न बोलते हों, प्रगल्भ भाषणों के अभ्यस्त हों, अवसर आने पर तुरन्त निश्चय करने की जिनकी (बौद्धिक) क्षमता हो तो ऐसे पुरुष को 'सेनापति या अमात्य' की भूमिका दी जाए ॥ २२-२३ ॥

कंचुकी तथा श्रोत्रिय—

पिङ्गाक्षं दीर्घनासञ्च[१] ह्रस्वमुच्चमथापि वा ।
कञ्चुकी-श्रोत्रियादीनां भूमिकासु नियोजयेत् ॥ २४ ॥

जिन पुरुषों की आँखें भूरी और लम्बी नाक हो और जो या तो ऊँचे या ठिगने कद के हों तो उन्हें 'कञ्चुकी' या 'श्रोत्रिय' की भूमिका दी जानी चाहिये[१] ॥ २४ ॥

अन्य छोटी भूमिकाएँ—

एवमन्येष्वपि तथा नाट्यधर्मविभागतः[२] ।
दशावस्थानुरूपेण पात्रं युञ्ज्यात्[४] स्वभूमिषु ॥ २५ ॥

इसी प्रकार अन्य छोटी भूमिकाओं[२] में भी नाट्य-धर्मी रूढ़ियों के अनुसार विचार करते हुए भूमिका दी जानी चाहिये । और यह पात्रों की परिस्थितियाँ, अवस्था, (वय) आदि को तथा उनकी शारीरिक दशा आदि को देखकर विचारपूर्वक दी जानी चाहिये ॥ २६ ॥

मन्थरं वामनं कुब्जं विकृतं विकृताननम् ।
विष्टब्धनेत्रं[५] काणाक्षं स्थूलं चिपिटनासिकम् ॥ २६ ॥
दुर्वर्णं[६] दुःस्वभावञ्च विकृताकारमेव[७] च ।

---

१. उक्त विवरण से कञ्चुकी तथा श्रोत्रिय पात्र की पूर्णरूप से आर्यजातिमूलकता दर्शित होती है ।

२. जैसे तपस्वी या अन्य अमुख्य पात्रों की भूमिकाओं को तदुचित क्षमता के अनुसार स्वरूप तथा वेष के साथ रखी जाए ।

---

१. घोणनासं—क; स्फाट—क (भ०) ।
२. प्रवेशनं—ख०; धर्मी प्रशस्यते—घ० ।
३. देशवेषानुरूपेण—क० ।   ४. योज्यं—क ।
५. निष्टब्ध—ख०, विसृष्टनेत्रकार्याणां स्थूलं विहनुनासिकम्—ग० ।
६. दुर्जनं—ख०; दुर्वपि—ग०; दुर्जाति—क (भ०) ।
७. कृतचार—क० ।

दासभूमौ प्रयुञ्जीत बुधो दासाङ्कसंयुतम्[1] ॥ १७ ॥

जो पुरुष मन्थरगति से चलनेवाले हों, बौने हों, कुबड़े हों, शरीर के किसी अवयव से हीन हों, जिनका चेहरा भद्दा हो, जिनकी आँखें धंसी हुई हों या काणी हो, जिसका शरीर मोटा हो, नासिका चिपटी हुई हो, जिसकी वेषभूषा भद्दी हो, जिसकी प्रकृति दुष्ट हो, जिनका शरीर ऊबड़-खाबड़ हो और जिनके शरीर पर दास के चिह्न[1] अंकित हो तो ऐसे पात्र को 'दास' की भूमिका दी जाए ॥ १६–१७ ॥

श्रान्त तथा स्वस्थ पुरुष—

प्रकृत्या[2] तु कृशं क्षामं[3] तन्त्र[4] श्रान्तेषु योजयेत् ।
तथा च पुरुषं स्थूलमरोगेषु[5] प्रयोजयेत् ॥ १८ ॥

जो पुरुष स्वभाव से ही दुबला पतला हो तो ऐसे पात्र को श्रान्त पुरुष की भूमिका दी जाए और जो पुरुष मोटा ताजा हो तो उसे स्वस्थ पुरुष की भूमिका दी जाए ॥ १८ ॥

भूमिका प्रदान करने की विशिष्ट अवस्थाएँ—

यदि वा नेदृशाः[6] सन्ति प्रकृत्या पुरुषा द्विजाः ।
आचार्यबुद्ध्या योज्यास्तु[7] भावचेष्टा-स्वभावतः ॥ १९ ॥

हे मुनियों, यदि इन कथित गुण और प्रकृति से युक्त, पुरुष (भूमिका के लिए) प्राप्त न हों तो फिर नाट्याचार्य विचार पूर्वक जिन्हें अन्य पुरुषों को उनके भाव, चेष्टा और स्वभाव को ध्यान में रखते हुए ऐसी भूमिकाएँ प्रदान करे[2] ॥ १९ ॥

---

१. 'दासों' के नाट्यशास्त्रीय विवरण से इनकी तत्कालीन स्थिति का भी आभास होता है। इससे यह स्पष्ट है कि दास अनार्यजाति के होते थे। कौटिल्य ने स्पष्टतः आर्यों के दास न होने का उल्लेख किया है—'आर्यस्य न दासभावः'। दासों के शरीर पर इस प्रकार का एक निशान भी लगाया जाता था जिससे उनका दासभाव प्रकट होता हो।

२. भाव तथा चेष्टाओं का विचार नाट्याचार्य के द्वारा हो। यहाँ चेष्टा शब्द के द्वारा प्रतिशीर्षक आदि के प्रयोग के द्वारा इष्टपात्र की भूमिका को नाट्यधर्मिता के साथ दर्शाने का भी निर्देश प्रकट होता है।

---

१. दासाङ्कसम्भवम्—क०; दासाङ्कसंयुतम्—, ग० ।
२. प्रकृत्यातिकृशं—क० । ३. क्षान्तं—क (भ०) ।
४. तपःश्रान्तेषु—क० । ५. मुंपरोधेषु—क०; मुपरोधेषु—ग० ।
६. नेतराः—ख० । ७. योक्तव्या—ख०; ग०

या यस्य सदृशी चेष्टा स्वभावः[1] कर्म वा तथा।
सा तथाचार्ययोगेन[2] नियम्या भाव-भाविनी[3] ॥ २० ॥

और इन पुरुषों के जो चेष्टाएँ, स्वभाव का कार्य सहज हों तो इन सभी को देखकर नाट्याचार्य तदनुरूप ही उचित भावों को प्रदर्शित करने वाली भूमिकाएँ उन्हें प्रदान करे ॥ २० ॥

एवमन्येष्वपि तथा नाट्यधर्मी प्रशस्यते।
देशवेषानुरूपेण पात्रं योज्यं हि भूमिषु ॥ २१ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में भी नाट्य-धर्मी विधान का अनुसरण करते हुए तथा पात्रों को उनके देश, वेषभूषा आदि को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त भूमिका प्रदान की जाय ॥ २१ ॥

अनेक अवयवों वाले पात्र की भूमिका—

बहुबाहुबहुमुखास्तथा[4] च विकृताननाः।
पशुश्वापदवक्त्राश्च[5] खरोष्ट्राः[6] वारणास्तथा ॥ २२ ॥
एते चान्ये च बहवो नानारूपा भवन्ति ये।
आहार्ययुक्त्या[7] कर्तव्या मृत्काष्ठजतुचर्मभिः ॥ २३ ॥

यदि अनेक बाहुओं वाले, अनेकमुखवाले, विकृत मुखवाले (या भयंकर मुखवाले) या किन्हीं पशुओं के मुखवाले पात्रों की भूमिका देना हो या मञ्च पर सिंह, खर, ऊट या हाथी आदि पशुओं के रूप की योजना आवश्यक हो तो नाट्याचार्य के निर्देशानुसार मिट्टी, लकड़ी या लाख और चमड़े से बने हुए मुखौटों का प्रयोग करते हुए ऐसे पात्रों की भूमिकाएँ (नाट्यधर्मी विधा से) प्रस्तुत करना चाहिये[1] ॥ २२-२३ ॥

---

१. ऐसे अवसर पर होने वाले आहार्याभिनय का विवरण ना० शा० अध्याय २३ पर-पुनः द्रष्टव्य।

---

१. ह्युत्तमाधममध्यमा—क०, ख०। २. चान्ययोगेन—ग०।
३. भावनी—क (घ०)।
४. बहुबाह्वो ख०; बहुबाहा—घ०। ५. पदसिंहाश्च—ग०।
६. खरोष्ट्राश्च गजाननाः—क०; खरोष्ट्राश्चाननास्तथा—ख०।
७. आचार्येण तु ते कार्या—क०; आहार्ययुक्त्या कार्यास्तै—ख०; आचार्य-बुद्धा—ग०।

रंगमञ्च पर पात्र का प्रवेश—

स्वाभाविकेन रूपेण न[1] विशेद्रङ्गमण्डलम् ।
आत्मरूपमवच्छाद्य वर्णकैर्भूषणैरपि ॥ २४ ॥

कोई पात्र अपने स्वाभाविक स्वरूप में (बिना सज्जा के) रंगमञ्च पर प्रवेश न करे। किन्तु रंग और भूषणों के द्वारा अपना स्वरूप छिपाकर साज-सज्जा के बाद ही (मञ्च पर पात्रस्वरूप में) प्रवेश करे ॥ २४ ॥

यादृशं यस्य यद्रूपं प्रकृत्या तस्य[2] तादृशम् ।
वयोवेषानुरूपेण प्रयोज्यं नाट्यकर्मणि ॥ २५ ॥

और (किसी) नाट्यप्रयोग में जिसका जो स्वरूप या शारीरिक स्थिति जिस पात्र के अनुरूप हो उसे अपने वय और वेष के अनुरूप ही वैसी भूमिका दी जाए ॥ २५ ॥

यथा जन्तुः[3] स्वभावं हि परित्यज्यान्यदैहिकम् ।
परभावं[4] प्रकुरुते परदेहं[5] समाश्रितः ॥ २६ ॥
एवं बुधः परं भावं सोऽस्मीति मनसा स्मरन् ।
वेष[6]-वागङ्गलीलाभिश्चेष्टाभिश्च समाचरेत् ॥ २७ ॥

जैसे कोई प्राणी अपने स्वभाव का परित्याग कर दूसरे जन्म में दूसरे शरीर को प्राप्त कर उसी के अनुरूप भाव और चेष्टाओं का आचरण करता है उसी प्रकार चतुर अभिनेता भी जिसकी भी वह भूमिका ग्रहण करे तदनुरूप ही मैं वही हूँ यह समझकर वाणी, अंग (अवयव) गति, लीला तथा चेष्टाओं के द्वारा उसी के भावों को प्रस्तुत करे[1] ॥ २६–२७ ॥

प्रकृति के तीन प्रकार—

अनुरूपा विरूपा[7] च तथा [8]रूपानुसारिणी ।

---

१. यहाँ शास्त्रकार ने अभिनेता को अपनी भूमिका के अनुसार आचरण करने का उपदेश परकायप्रवेश की प्रसिद्ध भारतीय योगशास्त्रीय उपमा को देकर एक साधक की तरह उसकी स्थिति को दिखलाया है।

---

१. रूपेण प्रविशेद्—ख०, भावेन प्रविशेद्—ग० ।

२. तत्र—क० ।

३. जीवत्स्वभावं हि—क; जीवस्वभावस्य—ख० । ४. भावः—ग० ।

५. परभावं—क० । ६. येषां वागङ्ग—क; वागङ्गगतिलीलाभिः—ग०; वेषाङ्गगतिलीलाभिः—घ (न०) । ७. वृहद्रूपा—ख० ।

८. अविरूपानुरूपिणी—ख० ।

त्रिप्रकारा भवेन्नाट्ये[1] प्रकृतिस्तु[2] विभाविता ॥ २८ ॥

यह प्रयोग में मंच पर प्रस्तुत की जाने वाली (मानवीय) प्रकृति तीन प्रकार की होती है। यथा—(१) अनुरूपा, (२) विरूपा तथा (३) रूपानुसारिणी ॥ २८ ॥

अनुरूपा-प्रकृति—

स्त्रियस्तु[3] स्त्रीगते भावे पुरुषाः पौरुषे तथा।
यथावयस्तथा[4] तस्मिन्ननुरूपेति सा स्मृता ॥ २९ ॥

यदि स्त्री का स्त्री पात्र के द्वारा और पुरुष का पुरुष पात्र के द्वारा उनकी वय और अवस्था के उपयुक्त भूमिका में अभिनय प्रस्तुत किया जाता है तो उसे 'अनुरूपा-प्रकृति' कहा जाता है ॥ २९ ॥

विरूपा-प्रकृति—

यो बालः स्थाविरीं भूमिं वृद्धो वा बालभूमिकाम्।
तद्भावैः कुरुते नाट्ये[5] सा विरूपेति कीर्तिता ॥ ३० ॥

यदि किसी बालक को वृद्ध की भूमिका दी जाए या वृद्ध पुरुष को बालक की भूमिका देने पर वे तदनुरूप ही अभिनय प्रस्तुत करते हों तो ऐसी भूमिका 'विरूपा-प्रकृति' कहलाती है ॥ ३० ॥

रूपानुसारिणी—

पुरुषः स्त्रीगतं[6] भावं यत्र[7] प्रकुरुते पुनः।
रूपानुसारिणी[8] ज्ञेया प्रयोगे भरतोत्तमैः[9] ॥ ३१ ॥

यदि किसी पुरुष के द्वारा स्त्रीपात्र की भूमिका ग्रहण की जाय तो उसे उत्तम अभिनेतागण 'रूपानुसारिणी'[1] प्रकृति मानते हैं ॥ ३१ ॥

---

१. पुरुष के द्वारा स्त्रीपात्र की भूमिका ग्रहण करने की प्रथा एक तो आवश्यकता के अनुसार तथा दूसरे नाट्यमंडलियों में अभिनय हेतु स्त्रीपात्रों

१. भवेन्नृणां—ग०, त्रिप्रकारेह पात्राणां—क० ।
२. प्रकृतिश्च—क०; प्रकृतिस्तु विभूषिता—ख० ।
३. स्त्रियो हि स्त्रीगतो भावः पौरुषः पुरुषस्य च—क०,
   स्त्रियास्तु स्त्रीकृतो भावः पौरुषः पुरुषस्य च—ख० ।
४. यथावयो यथावस्यमनुरूपे—च० ।   ५. नाट्यं—ग० ।
६. स्त्रीकृतं—क० ।   ७. रूपात् प्रकुरुते पुनः—क० ।
८. रूपानुरूपा सा—क०, ख० ।
९. प्रकृतिर्बुधैः—क०, प्रकृतिस्तया—ख० ।

Scanned with CamScanner

छन्दतः पौरुषीं कुर्याद्भूमिकां[1] स्त्रीप्रयोगतः ।
न परस्परचेष्टाभिः[2] कुर्यात्तां[3] वृद्धबालिशौ ॥ ३२ ॥

नाट्यप्रयोग में (आवश्यकता होने पर) स्त्रीपात्र स्वेच्छा से पुरुष-पात्र की भूमिका ग्रहण कर तदनुरूप अभिनय प्रस्तुत कर सकती है परन्तु वृद्ध और बालक (या युवा) परस्पर एक दूसरे की भूमिका को ग्रहण करते हुए अभिनय प्रस्तुत न करें ॥ ३२ ॥

स्त्री और पुरुषों की विशेष उपयुक्ता—

उद्धता चैव पुरुषाः शौर्य–वीर्यसमन्विताः ।
पाठ्यप्रयोगे ते योज्या स्त्रियो गीते च सर्वदा ॥ ३३ ॥
प्रायः[4] प्रकृतिः स्त्रीणां गीते नृणां तु पाठ्यविधौ ।
स्त्रीणां स्वभावमधुराः कण्ठाः पुंसां तु बलवन्तः ॥ ३४ ॥

पुरुष शक्ति सम्पन्न और शौर्य-वीर्य आदि से युक्त होता है अतः उसे पाठ्य या संवाद दिये जाना चाहिये और स्त्रियों को (कोमल प्रकृति तथा मधुर कंठ के कारण) गीत दिये जाएँ। क्योंकि पुरुषों की प्रकृति पाठ्य या संवाद के उपयुक्त तथा स्त्रियों की गीत के अनुकूल होती है। इसका प्रमुख कारण है स्त्रियों की स्वभाव से ही पतली आवाज, मधुर कंठ और पुरुषों का अपने स्वाभाविक रूप में मोटी आवाज में रहना[2] ॥ ३३–३४ ॥

यद्यपि पुरुषो विद्यात् गीतविधानञ्च लक्षणोपेतम् ।
माधुर्यगुणविहीनं शोभां जनयेन्न तद्गीतम् ॥ ३५ ॥

की कमी या अनुलब्धि के कारण भी चली थी। यह कार्य भारत में आज भी चल रहा है। शेक्सपियर के नाटकों में भी पूर्व में कई युवा पुरुष स्त्रीभूमिका का निर्वाह करते थे।

१. यहाँ यह विवरण एक अनुभवपूर्ण निर्देश भी है क्योंकि किसी वृद्ध या बालक द्वारा एक दूसरे की भूमिका के ग्रहण करने पर नाट्यप्रयोग में सफलता की प्राप्ति न होने के साथ-साथ भद्दापन भी आ जाता है।

२. इस सन्दर्भ में ना० शा० अध्याय ३२।५०४ भी तथा ३२।५०५ भी द्रष्टव्य।

---

१. भूमिं स्त्री कुर्यादनुरूपतः—क० ।
२. चेष्टासु कार्यौ स्थविरबालिशौ—क० । ३. कुर्यातौ—[illegible]
४. पाठ्यप्रयोगे पुरुषाः प्रयोक्तव्या हि संस्कृते—[illegible] ।

यद्यपि पुरुष लक्षणादि से युक्त गीत या शास्त्रीय विधि का ज्ञाता होता है पर उसके कण्ठ में माधुर्य गुण सहज न होने से उसके द्वारा गीत गाये जाने पर सौन्दर्य या रञ्जकता की उतनी सृष्टि नहीं हो पाती है ॥३५॥

यत्र स्त्रीणां पाठ्याद्गुणो नराणाञ्च कण्ठमाधुर्यम् ।
प्रकृतिविपर्ययजनितौ विज्ञेयौ तावलङ्कारौ ॥ ३६ ॥

और यदि स्त्री-पात्र संवाद या पाठ्य का व्यवस्थित उच्चारण करे और पुरुष-पात्र अपने कण्ठमाधुर्य के कारण उत्तम प्रकार से गीत का गायन भी प्रस्तुत करे तो अपने सहज प्रकृति के विपरीत उनके ये कार्य उनके विशिष्ट गुण हैं तथा ये उनके लिये अलङ्कारभूत हैं ॥ ३६ ॥

पुरुष की भूमिका में स्त्री-पात्र—

प्रायेण देवपार्थिव-सेनापति-मुख्यपुरुषभवनेषु ।
स्त्रीजनकृताः प्रयोगा भवन्ति पुरुषस्वभावेन ॥ ३७ ॥

प्रायः जब किन्हीं मन्दिरों, राज-प्रासादों तथा सेनापति (या श्रेष्ठिगण) आदि विशिष्ट पुरुषों के व्यक्तिगत रंगमञ्च पर कोई नाट्य-प्रयोग प्रस्तुत किया जाता है तो उनमें अधिकांशतः कभी पुरुषपात्रों की भूमिका स्त्रियाँ सहज कर लेती हैं[1] ॥ ३७ ॥

स्त्रीपात्र की विशेषता—

भूयिष्ठं[1] सुकुमारञ्च नित्यं[2] स्त्रीभिरनुष्ठितम् ।
इत्यर्थं[3] मानुषीणान्तु[4] दिव्यमानुषयोस्तथा ॥ ३८ ॥

पर किसी सुकुमार प्रकृति के पुरुष पात्र की भूमिका स्त्रीपात्र के द्वारा ग्रहण की जा सकती है क्योंकि स्त्री देवता या कोमल प्रकृति के पात्रों की भूमिका स्त्रियों को ही देना उचित होता है ॥ ३८ ॥

---

१. मन्दिरों में भक्तिभाव से नृत्य प्रस्तुत करने वाली देवदासियाँ केवल नर्तकी न होकर अभिनेत्री भी होती थी तथा वे उचित अवसर पर प्रस्तुत नाट्य-प्रदर्शन में पुरुष पात्र की भूमिका भी ग्रहण कर लेती थी । इसी प्रकार राजाओं के अंतःपुर में विद्यमान व्यक्तिगत नाट्यमण्डप पर भी अभिनय प्रस्तुत करने में अनेक दासियाँ पुरुषपात्र की भूमिका ग्रहण करती थीं ।

---

१. भूमिकं—क० ।   २. तु वृत्तं—ख० ।
३. अस्यर्थं—ग० ।   ४. प्रकृतीनान्तु—ख० ।

रम्भोर्वशीप्रभृतिषु[1] स्वर्गे नाट्यं प्रतिष्ठितम्[2] ।
तथैव मानुषे लोके राज्ञामन्तःपुरेष्विह[3] ॥ ३९ ॥

(यह इस कारण भी) क्योंकि स्वर्ग में नाट्य का प्रवर्तन रंभा, उर्वशी आदि अप्सराओं के द्वारा हुआ था[1] और भूलोक में भी यह कार्य इसी प्रकार अप्सराओं के द्वारा राजा नहुष के अन्तःपुर में सम्पन्न किया गया था ॥३९॥

भूमिकाओं हेतु स्त्रीपात्रों का प्रशिक्षण—

उपदेश्यमाचार्यैः शास्त्रबुद्ध्याङ्गनासु[4] च ।
न[5] स्वयं भूमिकाभ्यासं[6] बुधः स्त्रीणां प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥

अतएव नाट्य-निर्देशक या आचार्य स्त्रीपात्रों को शास्त्रानुसार अभिनय का प्रशिक्षण प्रदान करें परन्तु अपने स्वयं के विचारानुसार स्त्रीपात्रों को उनकी अपनी भूमिका (स्त्रीपात्रों की सहज भावों की भूमिका) के विषय में उन्हें किसी प्रकार का शिक्षण न दें ॥ ४० ॥

स्त्रीषु योज्यः प्रयत्नेन प्रयोगः पुरुषाश्रयः ।
यस्मात् स्वभावोपगतो विलासः स्त्रीषु दृश्यते ॥ ४१ ॥
तस्मात् स्वभावमधुरमङ्गं सुलभ-सौष्ठवम् ।
पौरुषं[7] ललितं यत्तु सोऽलङ्कारः परो भवेत् ॥ ४२ ॥

(परन्तु) वे उन्हें पुरुषपात्रों के द्वारा की जाने वाली भूमिकाओं के लिये प्रशिक्षण अवश्य दें और जब वे किसी पुरुषपात्र की भूमिका ग्रहण करती है तो उनके स्वाभाविक विलास, सहज मधुर अंग और स्वाभाविक भाव-सौष्ठव के साथ जिस सुन्दरता से पुरुषभाव का प्रस्तुतीकरण किया जाता है वह एक अतिरिक्त विशेषता (बन जाती) है, क्योंकि स्त्रियों में सहज (या स्वाभाविकतया) विलास विद्यमान होता है ॥ ४१-४२ ॥

---

१. इसकी तुलना विक्र० च० अं ३ के विष्कम्भक में द्रष्टव्य ।

---

१. प्रभृतिभिः—ख० ।
२. प्रवर्तते—ख० ।   ३. पार्थिवानां गृहेषु च—ख०; पुरेष्वपि—ग० ।
४. प्रयत्नेनाङ्गनाजने—क०;...बुधपाङ्गनास्वपि—ख० ।
५. स्वयं तु—ग० ।
६. भूमिकाभ्यासो बुधैः कार्यस्तु नाटके—क० ।
७. ललितं सौष्ठवं—क० ।

Scanned with CamScanner

भूमिकाओं के औचित्यपूर्ण निर्णय का फल—

तुल्याऽवस्थाक्रियोपेता[1] भूमिका[2] प्रकृतिस्तथा।
भृशमुद्योतयेन्नाट्यं स्वभावकरणाश्रयम्[3] ॥ ४३ ॥

जब अभिनेता की उसके अनुकूल या उपयुक्त भूमिका रहती है तथा अवस्था और कार्य भी जब एकरूपता या समानता से युक्त हो जाते हैं तथा सहज रूप में जब करणों का प्रयोग होता है तो इन सभी से 'नाट्य-प्रयोग' एकदम चमक उठता है ॥ ४३ ॥

सङ्गीतमपरिक्लेशं[4] नित्यं प्रमदाजनस्य गुण एव।
यन्मधुरकर्कशत्वं भजते[5] नाट्यं प्रयोगेण ॥ ४४ ॥

नृत्य और संगीत बिना क्लेश के स्त्री-जन में गुण के रूप सदा विद्यमान होता है और संगीत के माधुर्य और कठोरता की (भी) नाट्यप्रयोग में आंशिक रूप में अपेक्षा (आवश्यक) होती है ॥ ४४ ॥

प्रमदा नाट्यविलासैर्लतेव[6] कुसुमैर्विचित्रलावण्याः।
कामोपचारकुशला भवन्ति[7] काम्ये विशेषज्ञाः ॥ ४५ ॥

क्योंकि जब स्त्री अपनी कामोपचार की कुशलता को प्रणय-लीला के कार्य-प्रदर्शन एवं व्यवहार को अपने माधुर्यपूर्ण (या विलासपूर्ण) अभिनय के साथ रंगमञ्च पर प्रस्तुत करती है तो वह उस लता के समान दिखाई देती है जो अपने विविध लावण्यपूर्ण गुणों के कारण अति आकर्षण कर रही हो[1] ॥ ४५ ॥

---

१. प्राचीन काल में भारत में कुछ युवक या लड़के भी स्त्रीपात्र की भूमिका ले लेते थे। यह बात मालतीमाधव की प्रस्तावना से भी स्पष्ट है। लड़कों को स्त्रीपात्र की भूमिका में लगाने या देने की बात स्वीकारना उनके अभिनय कौशल पर निर्भर था। यह तथ्य शेक्सपिअर के मंचीयप्रयोग के अनुशीलन से और (द्रष्टव्य भी) Shakspears Dramatic Art Combrige 1946 स्पष्ट हो जाता है।

---

१. क्रियोपेतो—ख०; तुल्योऽपि स्थापकोपेतो—ग०।
२. भूमिकान्यास इष्यते—ग०। ३. करणाश्रयाः—ख०; करणाश्रयात् —घ०। ४. क्लेशो—क०; सङ्गीतकमपरिक्लेशो—ग०।
५. लभते नाट्यप्रयोगेण—क०, भवति नाट्य—ग०।
६. लभते यत् कुसुमैर्विचित्रलावण्यम्—क०।
७. भवति च काम्यविशेषेण—क०।

योग्यासु[1] च प्रयत्नः कर्तव्यः सततमप्रमादेन ।
न हि योग्यां[2] विना भवति भावरससौष्ठवं किञ्चित्[3] ॥ ४६ ॥

अतएव नाट्याचार्य को स्त्रीपात्र को नाट्याभिनय के योग्य बनाने में अधिक आयास करना चाहिये क्योंकि ऐसा न करने पर उनके द्वारा प्रयुक्त भाव, रस तथा सौष्ठव से नाट्यप्रयोग में किसी प्रकार थोड़ी सी भी सफलता संभव नहीं होगी[1] ॥ ४६ ॥

नाट्यप्रयोग के विभेद—

प्रयोगो द्विविधश्चायं[4] विज्ञेयो नाट्यमाश्रितः[5] ।
सुकुमारस्तथाविद्धो नानाभावरसाश्रयः ॥ ४७ ॥

नाट्यप्रयोग जिसमें अनेक रस तथा भाव होते हैं—दो प्रकार का होता है—(१) सुकुमार तथा (२) आविद्ध ॥ ४७ ॥

सुकुमारनाट्य प्रयोग का स्वरूप—

नाटकं सप्रकरणं भाणो वीथ्यङ्क एव च ।
ज्ञेयानि सुकुमाराणि मानुषैराश्रितानि तु ॥ ४८ ॥

नाटक, प्रकरण, भाण, वीथी तथा अंक (नामक रूपकों के प्रकार) सुकुमार कहलाते हैं क्योंकि ये मनुष्य पात्र पर अपनी कथावस्तु को निर्भर करते है ॥ ४८ ॥

सुकुमाराः[6] प्रयोगा ये राज्ञामामोद-कारकाः ।

---

१. नाट्यप्रयोग में सफलता के लिये अतिशय पूर्वाभ्यास (Repeated rehearasal) ही आधार एवं सहायक होता है इस तथ्य का ग्रन्थकार ने यहाँ संकेत किया है ।

---

१. योग्यः स च प्रयत्नः—क० । २. योग्यया विना—क० ।

३. अस्मादनन्तरं क–पुस्तके-गीतं नृत्तं तथा वाद्यं प्रस्तारगमनक्रिया । शिष्यनिष्पादनञ्चैव षडाचार्ये गुणा स्मृताः ॥ ऊहापोहौ मतिश्चैव स्मृतिर्मेधा तथैव च । एतानि पञ्च यो वेत्ति स आचार्यः प्रकीर्तितः ॥ मेधास्मृतिर्गुणश्लाघा रागः सङ्घर्ष एव च । उत्साहश्च षडेवैताम् शिष्यस्यापि गुणान् विदुः ॥ एवं कार्यंप्रयोगशैनानाभूमिविकल्पनम् ॥ इत्यधिकम् ॥

४. द्विविधश्चैव—क०, ख० । ५. नाटकाश्रयः— क०, ख० ।

६. सुकुमारः प्रयोगोऽयं राज्ञामामोदकारकः—क० ।

शृङ्गाररसमासाद्य तान्नारीष्वेव[1] योजयेत् ॥ ४९ ॥

सुकुमारप्रयोग राजाओं को प्रसन्न करने के लिये बनाये गये हैं अतः इस वर्ग में रखे गये रूपकों में शृङ्गाररस की योजना करते हुए इन्हें स्त्रीपात्रों के अभिनय द्वारा ही सम्पन्न करवाया जाए ॥ ४९ ॥

युद्धोद्धता[2] वेगकृताः संरम्भबहुलाश्च ये ।
न ते स्त्रीभिः[3] प्रयोक्तव्याः प्रयोज्याः[4] पुरुषैर्हि[5] ते ॥ ५० ॥

पर जिन रूपकों में उद्धत युद्ध, गति के वेगपूर्ण कार्य और अतिशय उत्तेजक या आवेग पूर्ण चेष्टाएँ हों तो ऐसे अभिनय स्त्रीपात्रों से न करवाये जाएँ किन्तु ऐसे अभिनय पुरुष पात्र ही सम्पन्न करें ॥ ५० ॥

अनुद्धटमसंभ्रान्तमनाविद्धाङ्गचेष्टितम् ।
लय[6]-ताल-कलोपेतं प्रमाणनियताक्षरम् ॥ ५१ ॥
सुविभक्त-पदालापमनिष्ठुरम-कादलम्[7] ।
यदीदृशं[8] भवेन्नाट्यं नारीणान्तु[9] प्रयोजयेत् ॥ ५२ ॥

और यदि किसी रूपक में लोक सामान्य वृत्त या कथा से पूर्ण घटनाएँ हों, जिसमें उत्तेजक या आवेगपूर्ण आंगिक अभिनय की योजना न हो, जो लय, ताल तथा कला के प्रयोग से युक्त हो, जिसे उचित अक्षरों के उच्चारण द्वारा व्यवस्थित किया गया हो, जिसमें पदों आदि का विभाजन औचित्यपूर्ण या स्पष्ट हो और जिसमें अभीष्ट रस की बहुलता परिलक्षित होती हो तो ऐसा नाट्यप्रयोग स्त्रीपात्रों के द्वारा अभिनीत करवाकर प्रस्तुत किया जाना चाहिये[1] ॥ ५१-५२ ॥

---

१. इस विवरण से यह स्पष्ट है कि जब स्त्रीपात्रों के द्वारा कोई नाट्य-प्रयोग (नाटकादि) प्रस्तुत होते हों तो वे नृत्यसंगीत की प्रचुरता लिये हुए अवश्य रहते होंगे जिन्हें हम नृत्यरूपक (Ballet type) के रूप में ले सकते हैं। प्रियदर्शिका के तृतीय अंक में स्त्रीपात्रों के द्वारा प्रस्तुत ऐसा ही एक नाट्य प्रयोग दिखाने की घटना मिलती है। "ग्राम्य"

---

१. स्त्रीणां तत्तु प्रयोलयेत्—क, स्त्रीणां भाणं प्रयोजयेत्—ख० ।
२. युद्धोद्धताविद्धकृतासंरंभारभटाश्च ये—क० ।
३. स्त्रीणां प्रकर्तव्याः—क०   ४. योक्तव्याः पुरुषेषु ते—क० ।
५. स्तु ते—ख० ।   ६. लयतालकलापातप्रमाणनियताक्षरम्—क० ।
७. मनिष्ट रस—ख०; मभीष्टरसबाहुलम्—घ० ।
८. ईदृशं यद्—क० ।   ९. नारीभिश्च—क० ;

Scanned with CamScanner

आविद्ध नाट्यप्रयोग का स्वरूप—

यत्राविद्धाङ्गहारन्तं[1] च्छेद्यभेद्याहवात्मकम्[2] ।
मायेन्द्रजालबहुलं पुस्त-नेपथ्यसंयुतम्[3] ॥ ५३ ॥
[4]पुरुषैर्बहुभिर्युक्तमल्पस्त्रीकमथोद्धतम्[5] ।
सात्वत्यारभटीयुक्तं नाट्यमाविद्धसंज्ञितम् ॥ ५४ ॥

जिस रूपक (या नाट्य रचना) में आविद्ध स्वरूप वाले या उद्धत प्रकार के अंगहारों के साथ छेदन, भेदन तथा युद्ध के दृश्य प्रस्तुत किये जाते हों, जिसमें माया और इन्द्रजाल के अतिरिक्त पुस्त कर्म से (पलस्तर) होने वाली वेषभूषा और साजसज्जा आदि कार्यों का अधिक प्रयोग होता हो, जिसमें पुरुष-पात्रों की अधिकता रहे और थोड़े स्त्रीपात्र हों, जिसमें औद्धत्यपूर्ण कार्यों की प्रचुरता हो, जिसकी रचना सात्वती और आरभटी वृत्तियों से अधिकांश में की जाए तो उसे 'आविद्ध' नाट्य-प्रयोग समझना चाहिये ॥ ५३-५४ ॥

डिमः समवकारश्च व्यायोगेहामृगौ तथा ।
एतान्याविद्धसंज्ञानि[6] विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः ॥ ५५ ॥

डिम, समवकार, व्यायोग और ईहामृग नामक जो रूपक के प्रकार हैं उन्हें भी नाट्यवेत्ताजन 'आविद्ध' नाट्यप्रयोग समझें ॥ ५५ ॥

एषां प्रयोगः कर्त्तव्यः[7] देवदानवराक्षसैः ।
एवं प्रयोगैः[8] कर्त्तव्यंभूमिकानां विकल्पनम् ।
अथोच्यते[9] यथा नाट्ये आहार्यगुणसम्भवः ॥ ५६ ॥

और आविद्ध नाट्यप्रयोग, देव, दानव और राक्षस (जैसे उद्धत प्रकृति के) पात्रों के द्वारा सम्पन्न किया जाता है । इसी प्रकार नाटक में होने वाले पात्रों की भूमिका एवं उनके प्रयोगों को सम्पादित करना चाहिए । अब मैं आहार्य-अभिनय (नेपथ्य रचना तथा आचार) के द्वारा होने वाले नाट्य-प्रयोग का वर्णन करता हूँ ॥ ५६ ॥

---

१. यथाविद्धाङ्गहारं तु—क०, न चाविधाङ्गभावस्तु—ग० ।
२. हवात्मिकम्—ग० । ३. नेपथ्यदीपितम्—क०, दीपितम्—ग० ।
४. पुरुषप्रायसञ्चार—क० । ५. मनोद्धतम्—ग० ।
६. एतासां विद्धसंज्ञानि—ग० । ७. कर्त्तव्यो—ग० ।
८. कार्यं प्रयोगज्ञैर्नानाभूमिविकल्पनम्—क०, प्रयोगः कर्तव्यो—ग० ।
९. अत्रोच्यते यथा नाट्यमाहार्यगुणसम्भवम्—ख० ।

Scanned with CamScanner

माधुर्येण च संयुक्ता चतुःषष्टिकलान्विता ।
राजोपचारकुशला[1] स्त्रीदोषैश्च[2] विवर्जिता ॥ ८२ ॥
प्रियवादी[3] प्रियकथा स्फुटा[4] दक्षा जितश्रमा ।
एभिर्गुणैस्तु संयुक्ता गणिका परिकीर्तिता ॥ ८३ ॥

जो स्त्री कला एवं शिल्प की शिक्षा प्रदान करने वाले अपने आचार्य की शुश्रूषा में संलग्न रहती हो, लीला-पूर्ण चेष्टाओं, हाव-भाव तथा सत्य और विनय से युक्त हो, जिसका व्यवहार माधुर्य-पूर्ण रहता हो, जो चौसठ कलाओं तथा शिल्प में प्रवीण हो, राजोचित व्यवहारों का विशेष ज्ञान रखती हो, स्त्री में होने वाले रोगादि-दोष से रहित हो, प्रिय-संभाषण करनेवाली हो, जिसका कथन स्पष्ट रहता हो, जो निपुणता से युक्त और परिश्रमी हो (या अधिक श्रम से न कतराती हो) तो उसे 'गणिका' कहते हैं ॥ ८२-८३ ॥

नायिका—

रूपगुणशीलयौवनसुवर्णमाल्याभरणैः[5] सम्पन्ना ।
विशदा स्निग्धा मधुरा पेशलवचनशुभरक्तकण्ठी[6] च ॥ ८४ ॥
योग्यायामक्षुभिता[7] लयतालज्ञा रसैश्च सम्पन्ना[8] ।
सर्वाभरणसंयुक्ता[9] गन्धमाल्योपशोभिता ॥ ८५ ॥
एवंविधगुणैर्युक्ता[10] कर्त्तव्या नायिका तज्ज्ञैः[11] ।

जो स्त्री अपने शरीरसौन्दर्य और गुणों से युक्त हो, युवती हो, जिसका शरीर सुवर्ण के अलंकारों तथा पुष्पमाला आदि से भूषित होने पर चमक

१. मृत्तोपचार—ख०, तत्रोपचार—घ (न०) ।
२. दोषैस्तु—ख० । ३. प्रियवादिनी—ग० ।
४. प्रिया—ग० ।
५. माधुर्य'''सम्पन्ना—ख०, माधुर्यशक्तिसम्पन्ना—ख०, माधुर्यशक्तिसम्पन्ना यौवनसुवर्णमाल्याभरणसम्पन्ना—घ (ह०) ।
६. पेशलशुभरक्त—ख०, पेशलवचनाभिरक्त—ग० ।
७. भाण्डार्यश्चाक्षुभिता—ख०, भाण्डार्यश्च क्षुभिता—घ० (ह०) ।
८. संयुक्ता—ख० । ९. सर्वादोषाभिसंयुक्ता—ख० ।
१०. गुणयुक्ता—ख० ।
११. अस्मादनन्तरं—समागतासु नारीषु वयोरूपवतीषु च । न दृश्यते गुणैर्युक्ता सहस्रेष्वपि नर्तकी ॥ इति ख पुस्तकेऽधिकम् ।

Scanned with CamScanner

उठता हो, जिसका शरीर दमकता हो, जिसका स्निग्ध और मधुर स्वरूप हो, जिसके गले से मधुर ध्वनि में आकर्षक शब्दावली (या वचनावली) निस्सृत होती हो, जो परिश्रम करने में (या अभ्यास करने में) नियमित हो, जिसे ताल और रस का ज्ञान हो, जो सभी प्रकार के अलंकारों, पुष्पमालाओं तथा इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों को धारण करती हो तो उसे नायिका बनाना चाहिये ॥ ८४-८६ ॥

भूमिका के अनुपयुक्त स्त्रीपात्र—

अस्थानहासिनी[1] रूक्षा आविद्धगतिचेष्टिता ॥ ८६ ॥
दीर्घरोषा च दीना[2] च तथोद्धतोद्धटा सदा।
एवं विधा न कर्तव्या प्रेक्षायां[3] प्रकृतिर्बुधैः ॥ ८७ ॥

परन्तु ऐसी स्त्री को किसी नाट्यप्रदर्शन में नायिका (आदि) की भूमिका न दी जाए जो किसी अवसर का ध्यान न रखकर हंसने लगती हो, देखने में रूखी हो जिसकी पाद-गति और आंगिक चेष्टाएँ उद्धत (या अस्वाभाविक) हो, जिसका क्रोध देर तक शान्त न होता हो और जो हीन या फीकी दिखलाई देती हो ॥ ८६-८७ ॥

एवमेताः प्रकृतयो ज्ञेयाः[4] नाट्यप्रयोक्तृभिः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भरतानां[5] विकल्पनम् ॥ ८८ ॥

नाट्य प्रयोक्ताजन के लिये भूमिका हेतु पात्रों के लक्षण में जानने योग्य ये ही बाते हैं। अब मैं नाटक मंडली के सहकारियों (भरतों या नटों) का वर्णन करता हूँ ॥ ८८ ॥

आदर्श नाट्य-मंडली (सहकारी) परिवार—

भरताश्रयाश्च[6] भरतो विदूषकस्तौरिपो[7] नटो चापि।

---

१. अस्थानराशिनि रूक्षा—ग०; अस्थानरूपिणी—घ (न०)।
२. ह्यदीआ च तदा तु निभृतोद्धटा—ख०, तथा चानिभृतोत्कटा—घ० (ह०) ३. प्रेष्यायां—घ (म०) प्रकृष्टाभिनये बुधैः—ख०।
४. विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः—घ (ह०)।
५. लक्षणं भूमिकास्वपि—घ (ह०)।
६. भरताश्रयाच्च—ख०, भरताश्रयो—घ०, शिल्पकारोपकारी च—ग०।
७. सौरिकस्तथा नान्दी—क, तौरिको नटो वादी—क०।